

साहित्य अकादेमी

साहित्य निर्माता श्रृंखला

‘लाला श्रीनिवास दास’

A Monograph on
Lala Srinivas Das
by
Garima Srivastava

गरिमा श्रीवास्तव

साहित्य अकादेमी
रवीन्द्र भवन
फिरोजशाह रोड
नई दिल्ली - 110001

अनुक्रम

दो शब्द	
1. जीवन-वृत्त	1-7
2. नवजागरण और लाला श्रीनिवासदास	8-21
3. हिन्दी उपन्यास का आरंभ और लाला श्रीनिवासदास	22-39
4. लाला श्रीनिवासदास के नाटक	40-61
5. लाला श्रीनिवासदास की भाषा एवं शिल्प	62-67
6. उपसंहार	68-72
परिशिष्ट 1-3	73-82
सहायक पुस्तक सूची	83-83

दो शब्द

लाला श्रीनिवासदास जटिल और गहरे अनुभवों को ठेठ हिन्दी में बड़े ही यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत करने वाले लेखक हैं। विद्यार्थी जीवन में 'परीक्षा गुरु' की भाषा, उसकी प्रवाहमयता ने मेरा ध्यान आकर्षित किया था। हिन्दी उपन्यासों में बौद्धिक विमर्श की रचनात्मक भूमिका को देखने के लिए औपनिवेशिक शासन के अनंतर 1882 ई. में प्रकाशित 'परीक्षा गुरु' को अनदेखा करना असंभव था। सामाजिक यथार्थ को चरित्रों के रूप में प्रस्तुत करने की तकनीक, पात्रों के मानसिक ऊहापोह का चित्रण, प्रकृति और परिवेश का अंकन और ढलती हुई 19 वीं शताब्दी के नवजागरणकालीन परिवेश की दिल्ली में चलने वाले बाँगरू बोली के उच्चारण के अनुरूप अभिव्यक्ति इन सबने मुझे नवजागरण और समाज सुधार आंदोलनों में हिन्दी के प्रथम मौलिक कहे जाने वाले उपन्यास लेखक के विषय में शोध की ओर अग्रसर किया।

प्रस्तुत विनिबंध लिखते समय ही मुझे हिन्दी पुस्तकालयों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान हुआ। लाला श्रीनिवासदास के जीवन संबंधी सूचनाओं और जानकारियों का अभाव है। मुझे लाला जी की जन्मतिथि कहीं भी नहीं मिली। नागरी प्रचारणी सभा का पुस्तकालय भी इस दृष्टि से कोई सहायता नहीं कर पाया। श्रीनिवासदास की कोई तस्वीर भी उपलब्ध नहीं हो सकी। यह भी ध्यान देने की बात है कि नवजागरण, भारतेंदु हरिश्चंद्र पर ढेरों शोध-प्रबंध लिखे गए हैं लेकिन उनमें भी लाला श्रीनिवासदास के 'परीक्षा गुरु' को छोड़ कर अन्य कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती। श्रीनिवासदास ग्रंथावली के संपादक श्रीकृष्णलाल ने ग्रंथावली में लाला जी की सिर्फ दो रचनाओं को ही संकलित किया है - 'परीक्षा गुरु' एवं 'रणधीर प्रेममोहिनी'। ग्रंथावली की भूमिका में वे लिखते हैं - "प्रस्तुत पुस्तक में लाला श्रीनिवासदास की केवल दो पुस्तकें संगृहीत हैं क्योंकि यही दोनों कृतियाँ स्थायी महत्त्व की हैं। शेष कृतियों का उल्लेख मात्र कर दिया गया है।" श्रीनिवासदास के जीवन और साहित्य संबंधी आलोचना का अभाव है। ज्यादातर पुस्तकों में उनके उपन्यास 'परीक्षागुरु' की ही आलोचना मिलती है। कुछ ने उन्हें हिन्दी का प्रथम उपन्यासकार माना है, कुछ की दृष्टि में उनका यह प्रयास उपहासास्पद और महत्त्वहीन है।

प्रस्तुत विनिबंध में पाँच अध्याय हैं जिनमें उनके जीवन-वृत्त और लेखन कर्म, सृजन का परिचय दिया गया है। परिशिष्ट में उनकी रचनाओं के कुछ अंश प्रस्तुत हैं। नवजागरण के दौर के हिन्दी लेखकों में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है, लेकिन उनका प्रामाणिक जीवन-वृत्त उपलब्ध नहीं है। लाला श्रीनिवासदास ने नाटक और उपन्यास लिखने के अतिरिक्त 'सदादर्श' शीर्षक पत्रिका का संपादन भी किया था।

लाला श्रीनिवासदास विविध भाषाओं के अच्छे जानकार और हिन्दी के प्रति अनन्य प्रेम रखने वाले रचनाकार थे, साथ ही वे कविहृदय भी थे।

शांतिनिकेतन में रहने के दौरान मैंने श्रीनिवासदास पर आधार सामग्री की खोज की थी। कुछ सामग्री पुराने पुस्तकालयों में भी मिली। श्रीनिवासदास के जीवन एवं साहित्य पर सामग्री संकलन करने में अमिष वर्मा (जे एन यू), साईनाथ(हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय), शहनाज़ बानो, तथा शिवकोटि नरसिंहम ने मेरी सहायता की। अतः उनका आभार व्यक्त करती हूँ। उच्च अध्ययन केन्द्र - शिमला, विश्वभारती शांतिनिकेतन, दिल्ली विश्वविद्यालय, काशी नागरी प्रचारणी सभा, राष्ट्रीय पुस्तकालय, कोलकाता के पुस्तकालय कर्मियों के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करती हूँ, प्रोफेसर नित्यानंद तिवारी ने हमेशा मुझे प्रेरणा दी है। मैं साहित्य अकादेमी की आभारी हूँ जिसने मुझे लाला श्रीनिवासदास पर अपनी दृष्टि से विचार करने और विनिबंध के माध्यम से उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व को प्रकाश में लाने का अवसर दिया।

- गरिमा श्रीवास्तव

हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय

हैदराबाद - 500 046.

अध्याय-1 जीवन-वृत्त

लाला श्रीनिवासदास का जन्म सन् 1850 ई. में दिल्ली में हुआ था। इनके पिता का नाम मांगीलाल था। श्रीनिवासदास अपने पिता की मंजली संतान थे। ये जाति के माहेश्वरी वैश्य थे। मांगीलाल मथुरा में सेठ लक्ष्मीचंद की फर्म के हेड-मैनेजर थे। सेठ लक्ष्मीचंद उस समय पूरे उत्तर भारत के सबसे धनी और व्यापारियों में से एक थे। मथुरा में इन्होंने श्रीरंगजी का मंदिर बनवाया था। मांगीलाल पर सेठ लक्ष्मीचंद बहुत विश्वास करते थे। श्रीनिवासदास ने बचपन में हिन्दी और उर्दू में शिक्षा प्राप्त की और वे अच्छी अंग्रेज़ी भी जानते थे। श्रीनिवासदास का पूरा खानदान व्यापारियों और महाजनों के यहाँ काम करता था, उनके भाई नारायणदास भी महाजनों की नौकरी करते थे। लाला श्रीनिवासदास ने लक्ष्मीचंद के पुत्र सेठ लक्ष्मणदास की दिल्ली की कोठी की मुनीबी संभाली थे और “वहाँ का कुल कारोबार इन्हीं के निरीक्षण में होता था। इन पर सेठजी का इतना विश्वास था कि वह इनके कामों में कुछ भी हस्तक्षेप न करते थे और इन्होंने वैसे ही सफलतापूर्वक व्यापार को अंत तक संभाला।”¹ इनके भाई नारायणदास ने मथुरा के सेठों के यहाँ मैनेजरी संभाली थी, जिन सेठों ने श्रीरंगजी के मंदिर की बीस लाख रुपए की जायदाद खड़ी की थी।

श्रीनिवासदास के परिवार की आर्थिक दशा अच्छी थी, वे स्वयं भी उद्यमी थे, और धनोपार्जन जानते थे। उन्होंने बाल्यकाल से ही धनाढ्य सेठों-महाजनों की शानो-शौकत और फ़िज़ूलखर्ची वाली ज़िंदगी और रहन-सहन को नज़दीक से देखा था। इन सबके चलते व्यापार का पतन और उसके कारणों से भी पूरी तरह वाकिफ़ थे। सेठ लक्ष्मीचंद के पुत्र लक्ष्मणदास का नाम उत्तरभारत के तीन बड़े सेठों में आता था, विशेषकर उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में। पिता-पुत्र दोनों ने मिलकर अंग्रेज़ सरकार का साथ दिया था। यहाँ तक कि “सेठ लक्ष्मणदास और उनके पिता लक्ष्मीचंद ने 1857 के ग़दर में विद्रोहियों के हमलों से अंग्रेज़ों को बचाने के लिए अपने खर्च से जासूसी का एक तन्त्र खड़ा किया था।”²

शायद इसी के एवज़ में अंग्रेज़ों ने उन्हें राजा की उपाधि दी थी।³ 1898 में काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से अदालतों और सरकारी दफ्तरों में नागरी लिपि लागू करने की माँग करते हुए जो प्रतिनिधि मंडल लाला मदनमोहन मालवीय के नेतृत्व में तत्कालीन लेफ़्टिनेंट गवर्नर सर एंटनी मैकडॉनल को मेमोरियल देने गया था, उसमें मथुरा के सेठ राजा लक्ष्मणदास भी शामिल थे।⁴ इन्हीं सेठ लक्ष्मणदास के यहाँ लाला श्रीनिवासदास ने नौकरी की। वे लक्ष्मणदास की दिल्ली-कोठी का कारोबार भी देखते थे और उनकी सीताराम बाजार वाली कोठी (फर्म) के मैनेजर थे।

लाला श्रीनिवासदास अच्छे डीलडौल के तथा इकहरे बदन के थे। प्रकृति से मेधावी तथा बुद्धिमान थे। कम उम्र में ही महाजनी कारोबार में वे दक्ष हो गए थे। अठारह वर्ष की अवस्था में ही दिल्ली की कोठी का कुल भार इन्हें सौंप दिया गया था। सरल तथा प्रेमपूर्ण स्वभाव के कारण वे व्यापार में बड़े सफल रहे। अपने सेठ लक्ष्मणदास के प्रति ये आजीवन वफ़ादार रहे। उन्हें दिल्ली के अतिरिक्त अन्य नगरों की कोठियों में जाकर भी निरीक्षण करना पड़ता था।

लाला श्रीनिवासदास बड़ी गहराई से व्यापार और समसामयिक स्थितियों का विश्लेषण करते थे। अपने उपन्यास ‘परीक्षागुरु’ में अपने ही मालिकों के व्यापारिक पतन के अनुभव का आधार उन्होंने लिया था। मथुरा के तत्कालीन जिलाधीश ग्रीवज़ ने ‘मथुरा : ए डिस्ट्रिक्ट मेमोयर’ में मथुरा के तत्कालीन सेठों-महाजनों, विशेषकर लक्ष्मणदास के वैभव-प्रदर्शन और फ़िज़ूलखर्ची के विषय में काफी कुछ लिखा है। दिखावे और

फिज़ूलखर्ची के कारण ही लक्ष्मणदास का सारा व्यापार बहुत जल्दी ध्वस्त हो गया था।⁵ लाला श्रीनिवासदास ने बहुत नज़दीक से उस व्यवसायी वर्ग को देखा था, जिसने अंग्रेज़ों को अपना सहयोग देकर ईनाम और ख़िताब अर्जित किए और समाज में अभिजात्यों की अगली पंक्ति में आ बैठे। अभिजात जीवन-पद्धति के रूप में उसी जीर्ण-शीर्ण सामंती परंपरा के विकृत अवशेष उनके उत्तराधिकारियों को मिले।

लाला श्रीनिवासदास विविध विषयों और भाषाओं के अच्छे जानकार थे। घर में ही, पिता के संरक्षण में शिक्षा ग्रहण करने से इनमें नैतिकतावादी विचार बड़ी श्रेष्ठता के साथ पुष्पित-पल्लवित हुए। विविध भाषाओं के प्रचुर साहित्य का इन्होंने अध्ययन किया था। एक ओर संस्कृत तो दूसरी ओर अंग्रेजी साहित्य के विशद् अध्ययन ने उन्हें परंपरा और आधुनिकता के तत्त्वों का तटस्थ विवेचन करने की अभिनव दृष्टि प्रदान की। जातिगत संस्कारों से वे एक अत्यंत व्यवहारकुशल व्यक्ति थे। विविध मनोवृत्तियों के मनुष्यों को समझने में, उनकी मनोवृत्ति के पीछे छिपे अवचेतन की गहरी परख श्रीनिवासदास को थी। यह ज्ञान उन्हें व्यवहार जगत और अपने आस-पास के परिवेश से मिला था। कारोबार के अनंतर ये विविध व्यक्तियों के संपर्क में आते रहते थे, अतः व्यावहारिकता और साहित्यानुरागिता का अभूतपूर्व सम्मिश्रण इनके कृतित्व में देखने को मिलता है।

श्रीनिवासदास के परिवार की आर्थिक दशा अच्छी थी। स्वयं भी वे उद्यमी थे, और धनोपार्जन जानते थे। स्वस्थ और संभ्रांत शहरी होने के कारण वे पूर्वग्रह मुक्त थे। पुस्तकें अर्जित करने का शौक इन्हें आजीवन रहा। 1918 ई. में 'परीक्षागुरु' के पुनर्मुद्रण पर प्रकाशक ने इनके संबंध में लिखा -- "इनकी जैसी रीझबूझ सरकार में थी, वैसे ही बिरादरी वाले शहर के महाजन लोग भी इनको मानते थे। ... लाला श्रीनिवासदास को दिल्ली की कोठी का कारबार करने के अतिरिक्त इधर-उधर दौरा करके और कोठियों की भी देखभाल करनी पड़ती थी, इससे इन्हें अपनी बुद्धि को परिमार्जित करने का अच्छा अवसर लगा। इन्हें मातृभाषा हिन्दी से स्वाभाविक प्रेम था। आप जहाँ कहीं बाहर जाते और वहाँ कोई हिन्दी का लेखक या रसिक होता तो उससे अवश्य ही मिलते। यदि इनके यहाँ कोई हिन्दी का गुणग्राही जाता तो सब काम छोड़कर उससे बड़े प्रेम से मिलते और उसका अच्छा सत्कार करते थे।"⁶

लाला श्रीनिवासदास देशानुरागी और साहित्यिक रुचि के व्यक्ति थे। वे भारतेंदु के समकालीन थे भारतेंदु से घनिष्ठता के कारण लालाजी का सदादर्श पत्र बाद में 'कविवचन सुधा' में सम्मिलित हो गया था। तत्कालीन प्रसिद्ध पत्रों में छपे उनके लेख प्रायः सामाजिक, राजनैतिक तथा अन्य समस्याओं पर आधारित होते थे। 1874 ई. में उन्होंने 'सदादर्श' नामक पत्रिका का संपादन भी किया था। बनारस से निकलने वाली पत्रिका -- 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका', कलकत्ते का साप्ताहिक पत्र 'सारसुधा निधि', प्रयाग का 'हिन्दी प्रदीप' आदि पत्रों में इनके लेख देखने को मिलते हैं। श्रीनिवासदास की रचनाओं का केन्द्रीय विषय सामाजिक कुरीतियाँ एवं समाज में व्याप्त विविध समस्याएँ थीं। इन्होंने अंग्रेज़ों से भी बहुत अच्छे व्यावहारिक संबंध रखे थे। 'रणधीर प्रेममोहिनी को इन्होंने कर्नल डब्ल्यू जी डेविस को समर्पित करते हुए लिखा⁷ --

To,

Colonel W. G. Davis C. S. I
Commissioner and Superintendent
Delhi Division

Sir,

You have been commissioner and superintendent of the Delhi Division for about two years. During this period, you have done your best to promote good feelings and friendly intercourse not only among the different sections of the Native Community, but also between Europeans and our countrymen. Your efforts in both directions, have been attended with the happiest results. If all Europeans out here followed your noble example and mixed familiarly with natives, the gulf that unfortunately separates the rulers from the ruled in this country would be bridged over. I have much pleasure in dedicating this small volume to you as a token of respect and admiration and as an acknowledgment of the good work done by you.

Delhi
The 1st January 1878

Yours sincere admirer
Shri Niwas Dass

लालाजी को लक्ष्मणदास की दिल्ली कोठी के साथ-साथ अन्य नगरों की कोठियों का कारोबार भी देखना पड़ता था, जिससे इन्हें अपना अनुभव बढ़ाने तथा बुद्धि को विशेष परिमार्जित करने का काफी अवसर मिला। इनकी व्यावहारिक बुद्धि और प्रबंधन योग्यता का ही फल था कि पंजाब सरकार ने इन्हें म्यूनििसिपल कमिश्नर और ऑनरेरी मजिस्ट्रेट बना दिया। सन् 1883 में अनेक पत्रों द्वारा श्रीनिवासदास का नाम लेजिस्लेटिव काउंसिल के लिए भी प्रस्तावित किया गया।

हिन्दी के प्रति उनका आत्यंतिक लगाव था। अपनी प्रतिभा एवं संपत्ति का उपयोग वे हिन्दी तथा हिन्दी लेखकों के लिए कर सकें, वे इसका प्रयास सदैव किया करते थे। इस दृष्टि से एक घटना उल्लेख्य है, जब वे पं. प्रतापनारायण मिश्रजी से मिलने गए। मिश्र की आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। लालाजी का मन आकुल हो उठा और एक स्वर्ण मुहर उन्हें देने के लिए तत्पर हुए। स्वाभिमान के दर्प से दीप्त हिन्दी के सुधि लेखक प्रतापनारायण मिश्र बिगड़ खड़े हुए और क्रोधित हो बोले, “आप हमारे पास धन की गरुरी बतलाने आए हो।” लालाजी ने तब अति विनम्र हो हाथ जोड़कर कहा -- “नहीं महाराज, मैं तो मातृभाषा के मंदिर पर अक्षत चढ़ाता हूँ।” लाला श्रीनिवास अत्यंत संवेदनशील, सद्भावनापूर्ण एवं विवेकी लेखक थे। भारतेंदु की मृत्यु के बाद प्रकाशित ‘संयोगिता स्वयंवर’ की प्रति, श्रीनिवासदास ने उनकी पुत्री को भेजी थी। कई भाषाओं में अच्छी गति होने के कारण उनकी रचनाएँ देशी-विदेशी साहित्यिक उक्तियों से संपन्न हैं। उनकी रचनाओं से जो उनका व्यक्तित्व उभरता है, वह काफी, सरल, सद्भावनापूर्ण और विचारशील व्यक्ति का है।

व्यापार के कार्य में लगे रहने के साथ-साथ लाला श्रीनिवासदास को अध्ययन करने की बहुत लगन थी और इन्होंने हिन्दी, संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी में प्रचुर साहित्य का अध्ययन किया था। इनकी रचनाओं

में इनके विशद् ज्ञान का प्रतिबिम्बन मिलता है। व्यापारिक व्यस्तता के साथ-साथ भारतेन्दु हरिश्चंद्र से प्रेरणा ग्रहण कर इन्होंने चार नाटक और एक उपन्यास की रचना की तथा 'सदादर्श पत्र' का संपादन किया। 'सदादर्श पत्र' की प्रेरणा इन्हें भारतेन्दु से ही मिली। 'सदादर्श' नामक साप्ताहिक पत्र का संपादन 1874 ई. में शुरू हुआ जिसे इन्होंने दो वर्षों से कुछ अधिक दिन चलाया और उसके बाद 1876 ई. में यह भारतेन्दु के 'कविवचनसुधा' में मिला दिया गया था। श्रीनिवासदास के 'सदादर्श पत्र' के साथ मिलकर 1876 ई. के लगभग 'सदादर्श संमिलित कविवचनसुधा' के नाम से यही पत्र प्रकाशित होने लगा। कुछ समय बाद भारतेन्दु ने अपनी 'बालाबोधिनी' नामक पत्रिका मिलाकर इसे 'सदादर्श और बालाबोधिनी सहित कविवचन सुधा' के नाम से प्रकाशित किया।⁸ स्पष्ट है कि लाला श्रीनिवासदास भारतेन्दु के उन मित्र-सहयोगियों में से थे जो हिन्दी नवजागरण के दौर में हिन्दी साहित्य के प्रचार-प्रसार का कार्य कर रहे थे। 1873ई. से भारतेन्दु ने 'हरिश्चंद्र मैगज़ीन' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया। 1874 ई. से इसे 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' कर दिया गया। मैगज़ीन में नाटक निबंध के साथ समस्यापूर्ति, चुटकुले, विज्ञापन आदि प्रकाशित होते थे। इसके लेख प्रायः साहित्यिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक, हास्य-व्यंग्य, पाकशास्त्र तथा भाषा के व्याकरण आदि अनेक विषयों से संबंधित होते थे। इसके प्रमुख लेखकों में भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों में बिहारी चौबे, गदाधर सिंह, श्रीनिवासदास, शीतलाप्रसाद तिवारी आदि थे। इसमें संस्कृत, ब्रजभाषा खड़ी बोली तथा अंग्रेजी आदि की रचनाएँ रहती थीं।⁹ "लालाजी कभी-कभी 'कविवचनसुधा' तथा भारतेन्दु (वृन्दावन) में लेख भी दिया करते थे। सन् 1883 के 'भारतेन्दु' में सदाचरण शीर्षक इनका लेख प्रकाशित हुआ, जो पठनीय है। हरिश्चंद्र चंद्रिका के जून सन् 1874 ई. में 'भारत की समृद्धि' नामक इनका एक लेख छपा है।"¹⁰

लाला श्रीनिवासदास भारतेन्दु हरिश्चंद्र और इनके मंडल के लेखकों के निरंतर संपर्क में रहते थे। ज्ञानचंद जैन के अनुसार लाला श्रीनिवास दास को "अंग्रेजी के उपन्यास पढ़ने का शौक था।"¹¹ संभवतः इसी शौक ने उन्हें 'परीक्षागुरु' उपन्यास लिखने की प्रेरणा दी जिसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अंग्रेजी ढंग का पहला मौलिक हिन्दी उपन्यास कहा। इस उपन्यास ने श्रीनिवासदास को हिन्दी साहित्य के इतिहास में अमर कर दिया। कथाप्रस्तुति की नाटकीय प्रविधि को नए ढंग से अपना कर हिन्दी पाठकों को गद्य के नए रूप से साक्षात्कार कराने का श्रेय इसी उपन्यास को है। लाला श्रीनिवासदास व्यापार के साथ साहित्य में भी पर्याप्त रुचि रखते थे। 'हिन्दी की सेवा में भारतेन्दु हरिश्चंद्र तथा उनके मंडल का हाथ बंटाने में उन्होंने यथाशक्ति सहयोग दिया था। जबकि मंडल के अन्य मुख्य नक्षत्रों में सजीवता तथा मनमौजीपन का बोलबाला था तब लालाजी में व्यवहार दक्षता तथा सांसारिक अनुभव बढ़ा-चढ़ा था। इसी से इनकी भाषा संयत, स्पष्ट तथा सुबोध और रचनाएँ सोद्देश्य होती थीं।"¹²

"वे विद्याप्रेमी बहुपठित, अंगरेजी और समसामयिक हिन्दी साहित्य तथा पत्रपत्रिकाओं के अच्छे अध्येता तथा साहित्यकारों का सम्मान करने वाले व्यक्ति थे 'परीक्षागुरु' में उन्होंने अपने समस्त अनुभव, ज्ञान और चिंतन को स्वानुभूत किंतु कल्पित कथा के माध्यम से प्रस्तुत कर दिया है। उन्होंने उन समस्त कारणों और परिस्थितियों का विश्लेषण किया है जो उस समय के अनुभवहीन धनी वैश्य युवकों को पथभ्रष्ट और दिवालिया बना देते थे।"¹³ लाला ब्रजकिशोर की चिंता में औपनिवेशिक भारत के बुद्धिजीवी की चिंता अभिव्यक्त हुई है। ब्रजकिशोर के रूप में श्रीनिवासदास ने स्वयं को ही अभिव्यक्त किया है -- वह उनके अपने विचारों, आदर्शों और मूल्यों का प्रतीक पात्र है। वह श्रीनिवासदास की तरह ही अनुभवी, सतर्क, प्रबंधन क्षमता-संपन्न, अध्ययनशील, विवेकी, देशप्रेमी, नैतिक, ईश्वर और स्वधर्म के प्रति आस्थावान और आधुनिक विचारों का समर्थक है।

लाला श्रीनिवासदास हिन्दी सेवी थे लेकिन बहुधंधी होने के कारण और अनेक कार्यों में व्यस्तता के कारण उन्हें हिन्दी साहित्य में और कुछ लिखने का अवसर नहीं मिला। वे भारतेंदु हरिश्चंद्र जी से एक वर्ष छोटे थे और उनकी मृत्यु के दो वर्ष बाद लालाजी की मृत्यु मात्र सैंतीस वर्ष की अवस्था में हो गयी। श्रीनिवासदास की मृत्यु सन् 1887 ई. (चैत्र सुदी 4 संवत् 1944) को हुई।¹⁴

श्रीनिवासदास के एकमात्र पुत्र का नाम दामोदर दास था। दामोदरदास की चार संतानें हुई - रणछोड़दास, वल्लभदास, केशवदास तथा भगवानदास। “रणछोड़दास तथा वल्लभदास ने श्रीनिवासदास की स्मृति में ‘ब्रज साहित्य मण्डल’ के तत्त्वावधान में एक सौ एक रुपए प्रतिवर्ष का पुरस्कार भी स्थापित किया। यह सन् 1948 से आरंभ हुआ था। इस पुरस्कार का नाम ‘लाला श्रीनिवासदास पुरस्कार’ है।”¹⁵

लाला श्रीनिवासदास अपने समकालीनों में विशिष्ट साहित्यिक रूचि तथा व्यवहारकुशलता के लिए जाने जाते थे। देशोद्धार से प्रेरित होकर श्रीनिवासदास ने भी चार नाटकों -- प्रह्लाद चरित, तप्ता संवरण, रणधीर और प्रेममोहिनी तथा संयोगिता स्वयंवर की रचना की। यद्यपि इनमें से रणधीर और प्रेममोहिनी के अतिरिक्त किसी अन्य का विशेष साहित्यिक मूल्य नहीं है, फिर भी हिन्दी नाट्य लेखन के प्रारंभिक चरण में लालाजी का साहित्यिक योगदान अविस्मरणीय है।

लाला श्रीनिवासदास में स्वाध्याय की अत्यधिक लगन थी। “इनका अन्य सेठों की अपेक्षा सर्वसाधारण के लाभ की ओर विशेष ध्यान रहता था और इस विषय का उद्योग भी करते थे।”¹⁶ ‘प्रह्लाद चरित्र’ श्रीनिवासदास की पहली रचना है जो लगभग असफल भी कही जा सकती है। संभवतः इसी कारण लालाजी इसे अपनी रचना कहने में संकोच भी करते थे। ‘प्रह्लाद चरित्र’ का प्रकाशन भी श्रीनिवासदास की मृत्यु के बाद सन् 1952 ई. में हुआ। ‘तप्ता संवरण’ नाटक हरिश्चंद्र मैगज़ीन के 14 फरवरी 1874 ई. तथा 15 मार्च 1874 की दो संख्याओं में छपा। इसका प्रथम पुस्तकाकार प्रकाशन नौ वर्ष बाद 1883 ई. में हुआ। ‘रणधीर प्रेममोहिनी’ सन् 1877 ई. में ही लिखा गया और उसी वर्ष प्रकाशित होकर सदादर्श-सम्मिलित कविवचनसुधा के पाठकों में वितरित हुआ। ‘संयोगिता स्वयंवर’ श्रीनिवासदास का अंतिम नाटक है जो 1885 ई. में पहली बार प्रकाशित हुआ। लाला श्रीनिवासदास ने अपने नाटकों में बीच-बीच गद्य के साथ पद्य का भी प्रयोग किया। उनकी रची एक कविता इस प्रकार है -

रूप अनूप सबहि प्रिय लागै
परम भयंकर प्राणी सिंहहु गिरिजा गिन अनुरागै
मुख को पूरन चंद्र सरिस लख मृग हठ संग न त्यागै
जनकसुता सम रूप जान जिय वानर चरनन लागै
कमला जान कत्त कुंजर गन चरन कमल रस पागै।”

संभवतः इसीलिए मिश्रबंधु विनोद में कहा गया - “इनकी कविता अमृत में डुबोई होती थी।”¹⁷

‘श्रीनिवासदास ग्रंथावली’ के संपादक डॉ.श्रीकृष्ण लाल ने लाला श्रीनिवासदास को भारतेंदु हरिश्चंद्र का सच्चा समकालीन माना है। उनका मानना है कि नाटककार के रूप में भारतेंदु युग में भारतेंदु के समकक्ष केवल इन्हीं को रखा जा सकता है और उपन्यास लेखक के रूप में तो ये उन्नीसवीं शताब्दी में अद्वितीय हैं। भारतेंदु से इनकी बड़ी घनिष्ठता हुआ करती थी और उनके पत्रों तथा रचनाओं को ये बड़े चाव से पढ़ते थे।¹⁸ भारतेंदु को भी इनकी रचनाएँ प्रिय थीं। लाला जी के नाटक ‘रणधीर और प्रेममोहिनी’ नाटक में प्रस्तावना का अभाव देख उन्होंने स्वयं इसकी प्रस्तावना लिखकर इसका अभिनय कराया और प्रस्तावना में सूत्रधार के मुख से कहलवाया कि - ‘उस (रणधीर और प्रेममोहिनी) नाटक में वे सब गुण हैं जो मैं चाहता हूँ।’

एक मध्यवर्ति परिवार में जन्म लेकर हिन्दी, अँग्रेज़ी, उर्दू, अरबी, फ़ारसी और संस्कृत आदि भाषाओं के गहन अध्ययन और जीवन के यथार्थ अनुभवों ने उन्हें व्यावहारिक साहित्यानुरागी हिन्दी सेवी का व्यक्तित्व प्रदान किया था। निजी जीवन का नैतिकवादी दृष्टिकोण उनके समूचे लेखन में व्यक्त हुआ है। अपनी सबसे महत्त्वपूर्ण रचना 'परीक्षा गुरु' में वे व्यापारिक कुशलता और व्यापारिक प्रबंधन का मूलमंत्र अभिव्यक्त करते हैं, साथ ही उनके पास विद्वत्तापूर्ण ऐतिहासिक-सांस्कृतिक जानकारी भी बहुत है। लाला श्रीनिवासदास की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यथार्थ की पहचान और उनका गैर-रोमैंटिक दृष्टिकोण है। वे अपने समय के गंभीर प्रतिभाशाली और सृजनशील कल्पना के साहसी लेखक थे। उनकी ग्रंथावली के संपादक श्रीकृष्णलाल उन्हें नवोन्मेषी प्रतिभा का लेखक मानते हैं क्योंकि , “श्रृंगार, भक्ति और वैराग्य की धूमधाम में हितोपदेश की परंपरा पर नीति-साहित्य की उत्कृष्ट रचना का एकमात्र श्रेय आधुनिक युग में लाला श्रीनिवासदास को है अस्तु, लाला श्रीनिवासदास को भारतेंदु के साथ आधुनिक युग का अग्रदूत माना जा सकता है।”

* * *

पाद टिप्पणी

1. श्रीनिवासदास ग्रंथावली - सं.डॉ. श्रीकृष्णलाल, पृ.4
तथा भारतेंदु मंडल - ले. ब्रजरत्नदास, पृ.45
2. The first Hindi novel and the Hindi elite; Modern Asian studies, 26 (1992)
Great Britain, पृ.780 - ए.एस.कलसी, परीक्षागुरु (1882)
3. रस्साकशी - वीरभारत तलवार, पृ.379
4. वही, पृ.375
5. राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य कुछ प्रसंग : कुछ प्रवृत्तियाँ, वीरभारत तलवार
6. श्रीनिवासदास ग्रंथावली - श्रीकृष्णलाल
7. श्रीनिवासदास ग्रंथावली - सं. श्रीकृष्णलाल, Dedication रणधीर प्रेममोहिनी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
8. भारतेंदु मण्डल - ब्रजरत्नदास, पृ.46
9. भारतेंदु की खड़ीबोली का भाषावैज्ञानिक अध्ययन - उषा माथुर, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
10. भारतेंदु मण्डल - ब्रजरत्नदास, पृ.48
11. प्रेमचंद पूर्व हिन्दी उपन्यास - ज्ञानचंद जैन
12. भारतेंदु मण्डल - ब्रजरत्नदास, पृ.48
13. हिन्दी उपन्यास का इतिहास - डॉ.गोपालराय
14. भारतेंदु मण्डल - ब्रजरत्नदास, पृ.47
15. वही, पृ.48, अद्यतन जानकारी के अनुसार यह पुरस्कार अब नहीं दिया जाता।
16. माधव मिश्र निबंधमाला - पृ.236
17. मिश्रबंधु विनोद - तृतीय भाग, पृ.1256
18. श्री निवासदास ग्रंथावली - सं. श्रीकृष्णलाल, पृ.2-4

अध्याय-2 नवजागरण और लाला श्रीनिवासदास

भारत में नवजागरण का प्रारंभ बंगाल में 1820 के दशक में और महाराष्ट्र में 1830 के दशक में हुआ। 1870 ई. के आते-आते यहाँ धर्म और समाज सुधार की यह लहर मद्धिम हो चली थी। उत्तर भारत में नवजागरण इसी दौर में आया जिसकी दो प्रमुख शक्तियाँ थीं ब्रह्मसमाज तथा आर्यसमाज। इसमें आर्यसमाज का प्रभाव मुख्यतः ब्राह्मणेतर वर्गों जाट, कायस्थ और वैश्यों पर पड़ा। आर्यसमाज अपने उग्र धार्मिक सुधारों के कारण पूर्वी जिलों में अपना प्रभाव नहीं जमा सका। पूर्वी प्रांत जिसमें काशी, प्रयाग जैसे हिंदू तीर्थ थे, उनमें परंपरावादी धर्म काफी संगठित था, अतः इन इलाकों ने नागरी, हिन्दी और गोरक्षा जैसे मुद्दे आर्यसमाज ने उठाए। हिन्दी, नागरी और गोरक्षा जैसे विषयों को छोड़कर आर्यसमाज के धार्मिक सुधारों के प्रतिरोध में हिन्दी के सभी बड़े लेखकों और संपादकों ने आंदोलन किए - यद्यपि सुधार आंदोलनों का थोड़ा-बहुत प्रभाव उन पर भी पड़ा लेकिन उनके आंदोलन या प्रतिक्रिया को नवजागरण नहीं कहा जा सकता। इसे 'हिन्दी नवजागरण' का नाम दिया गया। यह भारतीय नवजागरण की धारा से पृथक था। "भारतीय नवजागरण मुख्यतः धर्म और समाज के सुधार का आंदोलन था, जबकि हिन्दी नवजागरण का मुख्य लक्ष्य यह कभी नहीं रहा। उल्टे इसके नेता धर्म के परंपरागत स्वरूप में बुनियादी सुधारों का विरोध करते थे। सामाजिक सुधारों के मामले में सबसे प्रधान मुद्दे स्त्री प्रश्न पर उनका नज़रिया पिछड़ा हुआ और दुविधाग्रस्त था। बाल विवाह के विरोध में, विधवा विवाह के समर्थन में या स्त्री शिक्षा का कभी कोई उत्साहपूर्ण आंदोलन नहीं चलाया।"¹ इस हिन्दी नवजागरण जिसे कुछ विद्वान 'हिन्दी आंदोलन'² कहते हैं - की शुरुआत 1867 ई. में अदालती कामकाज में नागरी लिपि लागू करने के लिए सरकार को दिए मेमोरेण्डम से हुई थी। इधर पश्चिमोत्तर प्रांत में आर्यसमाज ही नवजागरण की मुख्य शक्ति रहा। पंजाब में उसका प्रभाव बहुत सृजनात्मक था। आर्यसमाज की लोकप्रियता के कई कारण थे। उसमें परंपरागत धर्म के खिलाफ़ साहस भरे विद्रोह के साथ-साथ एक व्यावहारिक दृष्टिकोण भी था, वह शिक्षित मनुष्य को उसकी परंपरा के अंदर से आधुनिक होने का रास्ता दिखाता था, सिर्फ़ सामाजिक दृष्टि से ही नहीं धार्मिक दृष्टि से भी। उन्नीसवीं सदी में जबकि भारतीय समाज, औपनिवेशिक शासन के परिणामस्वरूप ईसाइयत की चुनौती से जूझ रहा था, ऐसे में, आर्यसमाज ने उसे एक नए किस्म की धार्मिकता प्रदान की, उसने धर्म को सामाजिक दृष्टि से उपयोगी और धार्मिक व्यक्ति को अनुशासित और कर्मठ बनाने पर बल दिया। इस सबके बावजूद वह एक सीमा तक उग्र था जो व्यक्ति-चिंतन की स्वाधीनता को सीमित करता था। सिर्फ़ एक ऐसा मुद्दा था जिस पर आर्यसमाज और हिन्दी नवजागरणवादी लेखकों में मतैक्य था वह था - धर्म के आधार पर एक हिन्दू (आर्य) जाति (राष्ट्रीयता) बनाने के लिए दोनों सहमत थे। यह हिन्दू राष्ट्रीयता अंग्रेज़ों के विरोध में उतनी नहीं जितनी कि मुसलमानों के विरोध में बनी थी। हिन्दी नवजागरण के सभी प्रमुख लेखकों पर आर्यसमाज के इस तीव्र और आक्रामक पहलू का असर पड़ा, जिनमें बालकृष्ण भट्ट, भारतेन्दु, प्रताप नारायण मिश्र, राधाकृष्णदास आदि शामिल थे।

नागरी लिपि को सरकारी काम-काज की भाषा बनाने के लिए हिन्दी नवजागरण के लेखकों ने बहुत प्रयत्न किए। भारतेन्दु ने 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल' कहकर हिन्दी भाषा की उन्नति के कार्य की ओर सहयोगी लेखकों को प्रेरित किया। साथ ही, इन लेखकों में देशोन्नति की बात भी मिलती है। श्रीनिवासदास ने भारत के नैतिक उत्थान को देशोन्नति से जोड़कर देखा - "अपने देश में उपयोगी विद्याओं की चर्चा फैलाना, अच्छी-अच्छी पुस्तकों का और भाषाओं से अनुवाद करवाकर अथवा नई बनवाकर अपने

देश में प्रचार करने और देश के सच्चे शुभचिंतक और योग्य पुरुषों को उत्तेजन देने और कलों की अथवा खेती आदि की सच्ची देश-हितकारी बातों के प्रचलित करने में सच्चा धर्म समझते हैं।”³

देशोन्नति की यह धारा 1919-1920 में गाँधी जी के नेतृत्व में जन आंदोलन शुरू होने से पहले तक भारत में चलती रही थी। “देशोन्नति की यह धारणा उस राष्ट्रीय धारा का प्री-पॉलिटिकल रूप था जिसे आगे चलकर मॉडरेट पॉलिटिक्स कहा गया।”⁴ श्रीनिवासदास तत्कालीन राजनीतिक विकास की प्रक्रिया से परिचित न हों ऐसा संभव नहीं लगता क्योंकि वे विद्याव्यसनी थे और संपादक भी। सन् 1870 से ही नये ढंग के अखिल भारतीय राजनीतिक संगठन को बनाने की बात नई पीढ़ी कर रही थी। ‘हिन्दी प्रदीप’ के 1880 के फरवरी अंक में आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज के धार्मिक-सामाजिक सुधारों की तीखी आलोचना की गई - “देश की भलाई ऐसी धर्मसभाओं से नहीं हो सकती। देश की भलाई तो ऐसी सभाओं से हो सकती है, जिनमें केवल पॉलिटिकल बातों का विचार और बहस हो जैसे पूना सार्वजनिक सभा है। सो, ऐसी सभा करने की अभी यहाँ के लोगों में इतनी हिम्मत नहीं हुई तो और सभाओं से हमें क्या लाभ?”⁵

श्रीनिवासदास ने राजनीतिक दृष्टि से रचनाएँ नहीं लिखीं। वे नागरी लिपि और हिन्दी के समर्थक तो थे लेकिन वे अंग्रेज़ी शासन पर कोई तीखी टिप्पणी कहीं भी करते दिखाई नहीं देते। हिन्दी प्रदीप (1881) के अगस्त अंक में संपादकीय में एक तीखी टिप्पणी छपी थी, शीर्षक था ‘समझ की भूल’ जिसमें अंग्रेज़ी शासन पर तीखी टिप्पणी करते हुए कहा गया - “विदेशी हुकूमत के तहत रहकर देशी लोगों को अपनी भरपूर तरक्की की आशा रखना समझ की भूल है।” जबकि श्रीनिवासदास के समूचे लेखन में कहीं भी ब्रिटेन के औपनिवेशिक शासन या शासकों की आलोचना नहीं दिखाई देती। वे देशोन्नति के प्रसंग में भाववादी विचारधारा रखते हैं - “देश की उन्नति-अवनति का आधार वहाँ के निवासियों की प्रकृति पर है। सब देशों में सावधान और असावधान मनुष्य रहते हैं परंतु जिस देश में असावधान और कमकस विशेष होते हैं, उसकी अवनति होती जाती है।”⁶

वस्तुतः तत्कालीन औपनिवेशिक शासन की आलोचना श्रीनिवासदास के समकालीन किसी उपन्यासकार में नहीं मिलती। लाला श्रीनिवासदास चतुर एवं व्यावहारिक थे लेकिन ‘भाग्यवती’ के लेखक श्रद्धाराम फिल्लौरी ने सन् 1877 ई. में लिखे उपन्यास में तो कई जगह अंगरेज़ी शासन के प्रति गद्गद कंठ से आभार प्रकट किया। ‘भाग्यवती’ की नायिका अंग्रेज़ों के बारे में कहती है - “इनके समान चतुर और प्रजा का भला चाहने वाला राजा और कौन है?”⁷

भारतेंदु ने भी कई स्थानों पर अंग्रेज़ी शासन की प्रशंसा की थी। 1857 के गदर के बाद ब्रिटिश साम्राज्य से भारतीय शिक्षित वर्ग ने जो अपेक्षाएँ रखी थीं - उसीका प्रतिफलन औपनिवेशिक शासन की प्रशंसा थी, जिसे तत्कालीन लेखकों की रचनाओं में देखा जा सकता है, लेकिन 10-15 वर्षों के बाद भारतीय बौद्धिक वर्ग का मोहभंग ब्रिटिश शासन से होने लगा। मोहभंग के काल में ब्रिटिश शासन के औपनिवेशिक निहित स्वार्थों के कारणों का शोध और विश्लेषण अब भारतीय बुद्धिजीवी करने लगा जिससे राष्ट्रवादी आलोचना विकसित हुई। लाला श्रीनिवासदास में नवजागरण की प्रवृत्तियाँ समाज-सुधार और देशोन्नति के रूप में प्रकट हुईं। बालकृष्ण भट्ट ने अंग्रेज़ी शासन की आलोचना का पथ अपनाया तो श्रीनिवासदास ने देश की आर्थिक उन्नति-अवनति के कारणों की परख करने का। हालाँकि समाज-सुधार की चेतना अपने समकालीन लेखकों की अपेक्षा एक सीमित परिधि में ही उनमें दिखाई देती है। श्रीनिवासदास का कार्यक्षेत्र दिल्ली भी था और 1857 के पहले इसी दिल्ली में मास्टर रामचंद्र ने विज्ञान की पुस्तकों के अनुवाद एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रचार पर बल दिया। जब श्रीनिवासदास बार-बार देशोन्नति के लिए वैज्ञानिक शिक्षा और

दृष्टिकोण पर बल देते हैं इसलिए मास्टर रामचंद्र का प्रभाव उन पर पड़ा हो, इस संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर दिल्ली और आसपास के प्रदेशों पर आर्यसमाज का बहुत प्रभाव पड़ रहा था। आर्यसमाज के प्रभाव से पश्चिमोत्तर भारत में कई सामाजिक सुधार हुए। आर्यसमाज के सुधारवादी दृष्टिकोण का प्रभाव भी श्रीनिवासदास ने निश्चित रूप से ग्रहण किया था।

श्रीनिवासदास का रचनाकाल सन् 1873-74 ई. से लगभग 1887 ई. के बीच माना गया है। यह वह समय था जब 1857 ई. के गदर के बाद अंग्रेजों ने बर्बरता और नृशंसता के साथ दिल्ली में कत्लेआम किया। इस 'कत्लेआम' के सदमे से तुरंत उबर पाना संभव नहीं था। औपनिवेशिक शासन का यही उद्देश्य भी था कि गदर के दमन के बाद फिर से कोई विद्रोह उभरने न पाए। श्रीनिवासदास और उनके समकालीन लेखकों में इसलिए औपनिवेशिक शासन की आलोचना कम या न के बराबर मिलती है। राष्ट्रवादी उभार उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक तक और तेज़ हो गया था, अतः नवजागरण के लेखकों ने अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार औपनिवेशिक शासन की कम-ज्यादा आलोचना की।

श्रीनिवासदास पर उन्नीसवीं सदी के पुनर्जागरण का प्रभाव था, इसलिए उनकी रचनाओं में नैतिक शिक्षा या उपदेश को लक्ष्य बनाया गया। श्रीनिवासदास ग्रंथावली के संपादक श्रीकृष्णलाल ने भूमिका में लिखा है - "उन्नीसवीं शताब्दी में गद्य साहित्य का प्रचार होने पर जहाँ श्रृंगार और वैराग्य का साहित्य प्रचुर मात्रा में लिखा जाने लगा, वहाँ नीति साहित्य की उपेक्षा ही दिखाई पड़ती है। गद्य-साहित्य के प्रारंभिक चार महारथियों में लल्लूलाल ने 'राजनीति' के नाम से हितोपदेश का ब्रजभाषा गद्य में अनुवाद कर नीति-साहित्य की नींव अवश्य डाली परंतु अन्य लेखकों द्वारा उसकी उपेक्षा ही हुई। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि नाटक और उपन्यास उपदेश के लिए ही बने हैं, परंतु हिन्दी के अधिकांश नाटक और उपन्यास भी श्रृंगार के ही पोषक रहे हैं। श्रृंगार, भक्ति और वैराग्य की धूमधाम में हितोपदेश की परंपरा पर नीति-साहित्य की उत्कृष्ट रचना का एकमात्र श्रेय आधुनिक युग में लाला श्रीनिवासदास को है। श्रृंगार और वैराग्य के विपरीत जो लाला श्रीनिवासदास ने सदाचार नीति प्रधान साहित्य की रचना की उसे बहुत कुछ अंग्रेज़ी साहित्य का प्रभाव माना जा सकता है। रीतिकालीन श्रृंगारी साहित्य के प्रति नये सभ्य लोगों में विवाद प्रारंभ हो गया था और धीरे-धीरे नई शिक्षा वाले श्रृंगार रस से अरुचि रखने लगे थे। श्रृंगार के उत्कट विरोध का युग अभी आगे आने वाला था, परंतु 19 वीं शताब्दी के तीसरे चतुर्थांश से ही कुछ लोगों में श्रृंगार से अरुचि होने लगी थी और यह अंगरेज़ी शिक्षा के कारण ही हुआ था। फिर लाला श्रीनिवासदास तो पाश्चात्य साहित्य के बड़े प्रेमी थे और उनकी रचनाओं पर पाश्चात्य साहित्य का पर्याप्त प्रभाव है।"

श्रीनिवासदास देश की अवनति के कारणों पर विचार करने वाले नैतिकतावादी लेखक हैं, औपनिवेशिक शासन की आलोचना करना उनका उद्देश्य था नहीं, न ही यह उन्होंने किया है। वे भारतीयों की प्रकृति के बारे में अच्छा ज्ञान रखते थे। वे नैतिक शिक्षा या उपदेश को साहित्य का उद्देश्य मानते थे। उनकी रचनाओं में तत्कालीन राजनीतिक आंदोलनों का प्रभाव या उल्लेख नहीं है। "जिन घटनाओं ने उस समय खलबली मचा रखी थी जैसे अकाल, टैक्स, आर्म्स एक्ट, और वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट, काबुल की लड़ाई का खर्च भारत से वसूलने का विधेयक - 'परीक्षागुरु' से इनका पता दूर-दूर तक नहीं मिलता। लाला श्रीनिवासदास दिल्ली के थे और इसी दिल्ली में 1877 में प्रसिद्ध 'दिल्ली दरबार' हुआ था, जिसमें भारत के सभी प्रांतों से आये महत्त्वपूर्ण लोगों ने भाग लिया था। इस असाधारण सम्मेलन से प्रेरणा लेकर ही आगे अखिल भारतीय सम्मेलनों और संगठनों को कायम करने का सिलसिला शुरू हुआ था। लेकिन 'परीक्षा गुरु' पर इस घटना की परछाईं नहीं पड़ी। यहाँ तक कि उस समय समाज-सुधार के कुछ महत्त्वपूर्ण आंदोलन जैसे

विधवा-विवाह या आर्य-समाज का भी 'परीक्षा गुरु' में कोई असर या उल्लेख नहीं मिलता।'¹⁸

यह सत्य है कि लाला श्रीनिवासदास बड़े प्रखर रूप में औपनिवेशिक शासन का विरोध नहीं करते और न ही प्रखर राजनीतिक वक्ता के रूप में साहित्य को औजार बनाते हैं। वे अपनी सर्वप्रमुख रचना 'परीक्षा गुरु' में देशोन्नति का उल्लेख बार-बार करते हैं। देशोन्नति के लिए नागरिकों की नैतिकता उनके नैतिक चरित्र निर्माण की आवश्यकता का अनुभव वे बतौर भारतीय होने के कारण ही नहीं बल्कि ऐसे सधे हुए रचनाकार के दायित्व वहन-सा करते हैं जो बौद्धिक और भावुक होने से ज्यादा व्यावहारिक है। वक्त की नब्ज को परखना उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। औपनिवेशिक शासन ने शिक्षित उच्चमध्यवर्ग की उन्नति के ढेरों रास्ते खोल दिए थे। ये रास्ते पहले उन्हें सुलभ नहीं थे। उच्चाधिकारियों से संपर्क समाज में रुतबा हासिल करने का माध्यम था। 1857 ई. के गदर के बाद से औपनिवेशिक शासकों के प्रति अपनी वफ़ादारी दिखाना अपने व्यापार और सामाजिक हैसियत को बनाये रखने का एक औज़ार था और व्यावसायिक बुद्धि-चातुर्य से संपन्न श्रीनिवासदास इस मामले में सतर्क न हों, ऐसा संभव नहीं है। देशोन्नति की अवधारणा भारतेंदु तथा अन्य समकालीन लेखकों में दिखाई देती। गांधी जी के नेतृत्व में भारत में व्यापक जन-आंदोलन के शुरू होने, यानी 1919-1920 तक यह देशोन्नति की धारा चलती रही थी। श्रीनिवासदास देशोन्नति को किस रूप में ग्रहण करते थे यह विचारणीय है। लालाजी नैतिक चरित्र की उच्चता और भावावेश की जगह यथार्थ दृष्टिकोण को प्रमुखता देते थे। तत्कालीन समाज में प्रचलित देशोन्नति की विचारधारा, जिसका पोषण भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनके मंडल के सभी लेखकों ने अपने-अपने ढंग से किया, श्रीनिवासदास के दृष्टिकोण से अलग नहीं थी। व्यापारिक दक्षता, वैज्ञानिक प्रबंधन और नई-नई मशीनों का प्रचार-प्रसार तथा उद्योग-धंधों की उन्नति का आग्रह सिर्फ श्रीनिवासदास नहीं कर रहे थे बल्कि यह आग्रह जमशेदजी टाटा तक में दिखाई देता है। श्रीनिवासदास औपनिवेशिक भारत के उस शिक्षित समुदाय का अंग थे, जिन्हें यूरोपीय दुनिया अपनी विविधता के कारण लुभाती थी। चीन, ईरान, रोम, यूनान, रूस, इंग्लैंड के इतिहास, विभिन्न साहित्यिक कृतियों के प्रचुर उद्धरण श्रीनिवासदास को ज्ञात थे। इसके बावजूद उनकी देशोन्नति की अवधारणा में स्वदेश-प्रेम, भारत की आर्थिक उन्नति, नैतिक उन्नति और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ अपनी भाषा में शिक्षा की बातें सन्निहित हैं।

श्रीनिवासदास मध्यवर्गीय व्यवसायी बुद्धि के व्यक्ति थे और अंग्रेज़ों की साम्राज्य विस्तार की नीतियों से कमोबेश वाकिफ़ भी। वे जानते थे कि भारतीय मध्यवर्ग की बुद्धि को गुलाम बनाना, अंग्रेज़ों की साम्राज्यी नीति का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा था।

उन्नीसवीं सदी के नवजागरण में शिक्षा एक महत्त्वपूर्ण मसला थी। जहाँ नवजागरण की चेतना के वाहक के रूप में सार्वजनिक और शिक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण लोगों ने 1882 में औपनिवेशिक भारत की शिक्षा संबंधी समस्याओं पर पुनर्विचार करने के लिए गठित डब्ल्यू.डब्ल्यू.हंटर आयोग के सामने अपने-अपने विचार रखे। दरअसल वित्तीय संसाधनों के अभाव के कारण ब्रिटिश सरकार शिक्षा संस्थानों पर अपना नियंत्रण कुछ कम करके उनके प्रबंध और संचालन का दायित्व स्थानीय लोगों को देना चाहती थी। ब्रिटिश सरकार की यह कृपा आकस्मिक नहीं थी, न ही इसके पीछे उसकी लोकतांत्रिक भावना ही काम कर रही थी, बल्कि आर्थिक विवशता के कारण 1882 ई. में जिला बोर्डों और नगरपालिकाओं में भारतीयों को सीधे या चुनाव के जरिए प्रतिनिधित्व देकर स्थानीय विकास और निर्माण से संबंधित कई जिम्मेदारियाँ सौंप दी गईं जिनके लिए आर्थिक संसाधन इन्हीं संस्थाओं को स्थानीय तौर पर जुटाने थे (वित्तीय साधनों की कमी के विवरण के लिए देखें, फ्रांसिस रोबिंसन की पुस्तक 'सेपेरेटिज़्म एमंग इंडियन मुस्लिम्स) औपनिवेशिक भारत में ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों को ये अवसर इसलिए प्रदान किए थे क्योंकि वित्तीय संसाधनों को ब्रिटिश

अफसरों की ऊँची तनख्वाह के रूप में खर्च करना उन्हें गवारा नहीं था जैसे 1830 के दशक में भारत में अंग्रेज़ी शिक्षा देने के निर्णय के पीछे राजनीतिक लक्ष्य के अतिरिक्त एक बड़ा कारण यह भी था कि भारत में शासन चलाने के लिए सभी पदों पर इंग्लैंड से अंग्रेज़ों से बुलाना महँगा पड़ता था और उन्हें तनख्वाह भी ज्यादा देनी पड़ती थी। भारतीयों को प्रशासनिक पदों पर कम खर्च में बहाल किया जा सकता था जिसके लिए उन्हें अंग्रेज़ी शिक्षा देने की ज़रूरत आन पड़ी।⁹ ब्रिटिश सरकार की इसी नीति के तहत लाला श्रीनिवासदास को पंजाब में आनरेरी मैजिस्ट्रेट तथा म्युनिसिपल कमिश्नर बना दिया गया था।

भारतीय मध्यवर्ग की बुद्धि को गुलाम बनाना, अंग्रेज़ों की साम्राज्यी नीति का एक महत्वपूर्ण हिस्सा था। बौद्धिक गुलामी ही भारतीयों को वास्तविक गुलाम बना सकती थी। सुन्दरलाल ने अपने इतिहास में भारतीय शिक्षा की दुर्दशा के बारे में लिखते हुए अंग्रेज़ों की औपनिवेशिक नीति का खुलासा किया है। इस पुस्तक में शिक्षा के नव औपनिवेशिक भ्रमों को भी छिन्न-भिन्न किया गया है। ईस्टइंडिया कंपनी ने भारतीय उद्योग-धंधों का नाश कर दिया तथा परंपरागत शिक्षा प्रणाली को भी ध्वस्त कर दिया था। अंग्रेज शासक प्रारंभ में भारतीयों को शिक्षा नहीं देना चाहते थे क्योंकि मेजर जनरल लियोनेल स्मिथ के शब्दों में (1831) : “ शिक्षा का नतीजा यह होगा कि वे सब साम्प्रदायिक और धार्मिक पक्षपात जिनके द्वारा हमने अभी तक मुल्क को वश में रखा है और हिन्दू मुसलमानों को लड़ाए रखा है, दूर हो जाएंगे। शिक्षा का नतीजा होगा कि इन लोगों के दिमाग खुल जाएंगे।”¹⁰

किन्तु अंग्रेज़ी शिक्षा की औपनिवेशिक परियोजना भारत में पूरी तरह सफल नहीं हो सकी। औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली के साथ-साथ पश्चिम से आ रही ज्ञान की आँधी और भारतीय परंपराओं की प्रेरणा के कारण भारतीयों में राष्ट्रवादी चेतना का उद्भव हुआ। भारतेंदु को राजभक्ति की कविताएँ लिखने के बावजूद अंग्रेज़ों की गुलामी का अनुभव था -- “ कब लौं दुख सहिहौ सबौ रहिहौ बने गुलाम।” प्रारंभ में भारतेंदु के मन में पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से अंग्रेज़ी राज के प्रति मोह था, लेकिन बाद में उनका मोहभंग हुआ और उन्होंने ‘कविवचन सुधा’ में लिखा -- “ कुछ काल पहले अंग्रेज लोग जब हिन्दुस्तान के विषय में व्याख्यान देते थे तब यही प्रकट करते थे कि हम केवल इस देश के लाभ के अर्थ राज्य करते हैं कि हम सिर्फ हिन्दुस्तान की वृद्धि के निमित्त विचार करते हैं कि हमलोग इस देश की वृद्धि करेंगे और यहाँ के लोगों को विद्यामृत पिलाएंगे और राज्य का प्रबन्ध किस भाँति करना यह ज्ञान जब प्रजा को स्वतः हो जाएगा तब हमलोग हिन्दुस्तान का सब राज्य प्रबन्ध यहाँ के निवासियों के अधीन कर देंगे और अंत को सब राम-राम कहकर जहाज पर पैर रखकर स्वदेश गमन करेंगे।”¹¹ किन्तु अंग्रेज़ी राज ने इस कथन पर अमल नहीं किया। उपनिवेशीकरण के निरंतर विस्तार ने बुद्धिजीवी वर्ग की आँखों पर पड़ा परदा जल्दी से हटा दिया। हालांकि बुद्धिजीवियों का बहुत बड़ा तबका ऐसा था जो रहन-सहन, खान-पान में यूरोपीय जीवन शैली को आदर्श समझता था। भारतीय जब अपनी आदतें और आत्मगौरव भूलकर यूरोपीय जीवन शैली अपनाते थे तो सत्ता वर्ग बहुत प्रसन्न होता था। भारतीय जीवन में उपनिवेशवाद के आने से पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान के साथ-साथ ऐसी चीजें भी आई थीं, जो जीवन की गतिशीलता, आराम और सुख के लिए जरूरी थीं। वे सिर्फ प्रतिष्ठा का प्रतीक नहीं थीं। भारतेंदु और नवजागरण के लगभग सभी लेखक एवं रचनाकार आधुनिकता का स्वागत करने को तैयार थे लेकिन अपनी देशीयता, आत्मसम्मान बोध खोकर नहीं, इसलिए वे बार-बार भारतीय धन, विदेश चले जाने पर चिंता व्यक्त करते हैं -- ‘कर दुख बढ़े’, ‘पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी’, ‘भीतर-भीतर सब रस चूसै बाहर से तनमन धन मूसै / जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि सज्जन नहिं अंगरेज’, ‘जो भारत जग में रहयो सबसे उत्तम देस / ताहि भारत में रहयो अब नहिं सुख को

लेस' जैसी बातें कहकर देश की आधुनिक उन्नति में बाधक तत्त्वों की ओर संकेत करते हैं। बाजार पर औपनिवेशिक शासन का शिकंजा बढ़ता ही जा रहा था। लघु उद्योग एवं हस्तकलाओं की जगह विदेशी मशीनी माल ने ले ली थी --

“दीन भये बलहीन भये धन छीन भये सब बुद्धि हिरानी
ऐसी न चाहिए आपुके राज
प्रजागन ज्यों मछरी बिन पानी।”

औपनिवेशिक शासन से भारत की उन्नति, उद्धार की उम्मीद व्यर्थ थी, उन्होंने जनता को इस कटु सत्य से अवगत कराने के लिए साहित्य का अवलंब ग्रहण किया। भारतेंदु लिखते हैं -- “देशवासियों तुम इस निद्रा से चौंको, इन अंग्रेजों के न्याय के भरोसे मत फूले रहो। ... अंग्रेजों ने हम लोगों को विद्यामृत पिलाया और उससे हमारे देश-वांधवों को बहुत लाभ हुए, इसे हम लोग अमान्य नहीं करते। परंतु उन्हीं के कहने के अनुसार हिन्दुस्तान की वृद्धि का समय आनेवाला हो, सो तो एक तरफ रहा पर प्रतिदिन मूर्खता, दुर्भिक्षता और दैन्य प्राप्त होता जाता है। ... रोग और दुष्काल इन दोनों के मुख्य कारण अंग्रेज ही हैं। ... अखबार वाले इतना भूंकते हैं, कोई नहीं सुनता। अंधेर नगरी है, व्यर्थ न्याय और आजादी देने का दावा है।”¹² भारतेंदु ने यूरोपीय शिक्षा और सभ्यता को पहचाना। यूरोपीय ज्ञान के एशियाई प्रयोग भारत में सर्वाधिक हुए जिसके बारे में कार्ल मार्क्स ने भी टिप्पणी की थी। 19वीं सदी तक भारतीय जन में राष्ट्रराज्य की कल्पना जन्म ले चुकी थी। इसी चिंता की क्षीण प्रतिध्वनि हमें विभिन्न भाषाओं के समसामयिक पत्रों एवं साहित्य में सुनाई देती है। नवजागरण की गूंज पूरे देश में फैल रही थी। नई शिक्षा, विशेषकर देशी भाषा में शिक्षा, धर्म की रूढ़ियों पर चोट करना ‘नवजागरण’ के बुद्धिजीवियों का लक्ष्य था। भारतेंदु ने अपने लेख ‘भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है’ में राष्ट्रीय आकांक्षाओं का बिंब व्यक्त किया। ‘हिन्दी नई चाल में ढली।’ कहकर भारतेंदु ने हिन्दी समाज की जातीय एकता की नींव रखी। ‘परदेसी की बुद्धि अरु वस्तुन की करी आस, परबस हवै कब लौं कहो रहिहौ तुम हवै दास’ कहकर ज्ञान-विज्ञान में हिन्दी समाज की उन्नति के सूत्र प्रस्तुत किए। अपने नाटक ‘अंधेर नगरी’ (1881) में बाजार व्यवस्था के विकारों तथा उपभोग और शोषण की संस्कृति को पहचाना और उनका मखौल उड़ाया। नवजागरण के लेखकों ने संगठनात्मक कार्य भी किये जिनसे नवजागरण हिन्दी प्रदेश में अच्छी तरफ फैल सके। उन्होंने अपनी रचनाओं-भाषण, नाटक, प्रहसन, काव्य के माध्यम से राष्ट्र-राज्य की आकांक्षा को अभिव्यक्त किया, साथ ही अनेक लोगों को भी साहित्य सृजन की प्रेरणा दी। लाला श्रीनिवासदास के नाटक ‘रणधीर प्रेममोहिनी’ के लिए सूत्रधार और नटी आदि का संवाद भारतेंदु ने स्वयं लिखा था। उनके पत्र ‘कविवचन सुधा’ ने इस नाटक की प्रशंसा में लिखा था कि “एक लोटा ही पास हो तो उसे बेचकर इस नाटक को खरीदो।”

भारतेंदु अपने मित्रों को नाट्यरचना और अभिनय के लिए प्रोत्साहन देते थे। उन्होंने अपने ‘नाटक’ शीर्षक निबंध में लिखा है -- “विशुद्ध नाटक रीति से पात्र प्रवेशादि नियम रक्षण द्वारा भाषा का प्रथम नाटक मेरे पिता पूज्यचरण श्री कविवर गिरिधरदास का है। ... हिन्दी भाषा में दूसरा ग्रंथ वास्तविक नाटककार राजा लक्ष्मण सिंह का शकुंतला नाटक है। ... तीसरा नाटक हमारा विद्यासुंदर है। चौथे के स्थान में हमारे मित्र लाला श्रीनिवासदास का ‘तप्ता संवरण’, पंचम हमारा वैदिकी हिंसा, षष्ठ प्रियमित्र बाबू तोताराम का केटोकृतांत और फिर तो और भी दो चार कृतविद्य लेखकों के लिखे हुए अनेक हिन्दी नाटक हैं।”¹³

नवजागरण के रचनाकार एक निश्चित योजना के अनुसार राष्ट्र के सांस्कृतिक पुनरुत्थान, आर्थिक नवनिर्माण और राजनीतिक स्वातंत्र्य की उद्दाम कामना से प्रेरित होकर साहित्य रचना में प्रवृत्त हुए थे। ऐसा

प्रतीत होता है कि नवजागरण काल में जितने नाटक हिन्दी में प्रस्तुत किए गए उतने, उतने ही सीमित समय में फिर कभी न लिखे गए। उस समय की पत्र-पत्रिकाओं की छानबीन करने तथा तत्संबंधी विविध उल्लेखों के अनुशीलन से ऐसा अनुमान होता है कि इस समय कम-से-कम पचास नाटक लेखक तो अवश्य हुए होंगे और उन लोगों द्वारा कुल मिलाकर दो सौ से ऊपर ही नाटक रचे गए होंगे। इस प्रचुर नाट्य-रचना के पीछे नवजागरण की चेतना ही प्रेरणा स्रोत के रूप में कार्य रही थी। भारतेंदु और उनके सहयोगी राधाकृष्णदास, बालकृष्णभट्ट, प्रतापनारायण मिश्र आदि पत्र-पत्रिकाओं, लेखों तथा आर्थिक सहायता द्वारा लेखकों को प्रोत्साहन देते थे। भारतेंदु स्वयं कई नाटकों के अभिनय में भाग लेकर, नाटक में मंचन के समय उपस्थित रहकर भी इस कार्य की वृद्धि में योग देते रहते थे। ‘हरिश्चंद्र चंद्रिका’ में यह समाचार छपा था कि इस साल बलिया में ददरी का मेला बड़ी धूमधाम से हुआ। ... मेले के थोड़े दिन पूर्व से ही एक नाट्य समाज नियत हुआ था, जिसने मेले में कई उत्तम नाटकों का अभिनय किया। श्री भारतेंदु जी नाट्य समाज के प्रबंधकर्ताओं के आग्रह और अनुराग से यहां विराजमान थे। उक्त बाबू साहब कृत प्रसिद्ध नाटक सत्य हरिश्चंद्र और नीलदेवी बड़ी सुघराई से खेले गए। संपूर्ण दर्शक मण्डली मोहित हो गयी और उन नाटकों के कवि बाबू हरिश्चंद्र जी की, जो संयोग से नाट्यशाला में उस समय विराजमान थे, बार-बार सराहना करने लगी। बाबू साहब का नाम सुनकर इस जिले के मैजिस्ट्रेट आदि अनेक साहिबान और मेम लोग भी थियेटर में उपस्थित थे, ‘सत्य हरिश्चंद्र और नीलदेवी’ का अभिनय देखकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। वरंच राबर्ट्स साहब मैजिस्ट्रेट ने कहा कि इनके नाटक कविशिरोमणि शेक्सपियर से भी उत्तम हैं।”¹⁴

भारतेंदु से प्रेरणा ग्रहण कर साहित्य रचना में प्रवृत्त होने वाले राधाचरण गोस्वामी ने तो यहां तक लिखा कि “उनके लिखे ग्रंथ हमको वेद वाक्यगत प्रमाण और मान्य थे, उनको मानो ईश्वर का एकादश अवतार मानते थे। हमारे सब कामों में वह आदर्श थे, उनकी एक-एक बात हमारे लिए उदाहरण थी।”¹⁵

नवजागरण के लेखकों ने हिन्दी गद्य को अनेक रूपों - निबंध, नाटक, इतिहास, आत्मकथा, उपन्यास, इतिहास, यात्रा वर्णन आदि में ढाला। भारतेंदु के ठीक पहले का साहित्य समाज से कटा हुआ सामंतवाद के विलास और वैभव का गुणानुवाद कर रहा था। भारतेंदु ने उसे नवजागरण की वृहत्तर सामाजिक समस्याओं के साथ जोड़ा। शुक्लजी ने लिखा है -- “विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य साहित्य की परंपरा का प्रवर्तन नाटकों से हुआ।” भारतेंदु ने सामाजिक-राजनीतिक नाटकों की रचना की, इसके पीछे जनता को जागृत करना ही उनका उद्देश्य था। उन्होंने संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी नाटकों का अनुवाद भी किया और नाटकों की सृष्टि भी की। विद्यासुन्दर, रत्नावली, मुद्राराक्षस, कर्पूरमंजरी, दुर्लभबंधु आदि नाटकों का अनुवाद किया और चंद्रावली प्रेमजोगिनी, भारत-दुर्दशा, भारत-जननी, नीलदेवी, अंधेर नगरी और ‘सत्य हरिश्चंद्र’ आदि मौलिक नाटकों की रचना की। अनूदित नाटक उनके रसिक मन, नीतिमत्ता और राजनीतिक चेतना की अभिव्यक्ति हैं। मुद्राराक्षस तो सीधे राजनीति से जुड़ा हुआ है। भारतेंदु से प्रभावित होकर लाला श्रीनिवासदास ने रणधीर प्रेममोहिनी (1877), प्रहलाद चरित, और संयोगिता स्वयंवर, तप्ता संवरण जैसे रोमांटिक, पौराणिक, ऐतिहासिक नाटकों की रचना की। भारतेंदु मंडल के अन्य नाटककारों में राधाकृष्ण दास (महाराणा प्रताप) राधाचरण गोस्वामी (बूढ़े मुँह मुँहासे), बालकृष्ण भट्ट (जैसा काम वैसा परिणाम) जवाहरलाल वैद्य (कमल मोहिनी भंवर सिंह) गोपालराम गहमरी (विद्या विनोद) इसके अतिरिक्त अम्बिकादत्त व्यास, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, कार्तिकप्रसाद खत्री, काशीनाथ खत्री, रामकृष्ण वर्मा, केशवराम भट्ट, दामोदर शास्त्री सप्रे, तोताराम, शालिग्राम वैश्य, ज्वालादत्त मिश्र, लाला सीताराम, रायदेवी प्रसाद ‘पूर्ण’ आदि ने नाट्य रचनाएँ लिखीं। ठाकुर जगन्मोहन सिंह को छोड़कर सभी लेखकों ने इस समय नाटक अवश्य

लिखे। भारतेंदु मंडल के नाटककारों ने नृत्य, संगीत और अभिनय को समाज में सम्मान दिलाया, जबकि उनसे पहले के समय में नाटक को नीची दृष्टि से देखा जाता था। ‘तप्ता संवरण’ नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार नाटक की प्रशंसा करता है तो नट कहता है -- “यह ठीक, पर अब तो इस देश में कोई भलामानस नाटक करै तो उसकी बड़ी चर्चा हो” (तप्ता संवरण-पृ0-1) अपने ‘नाटक’ शीर्षक निबंध में नाटक की महत्ता के विषय में भारतेंदु ने लिखा -- “ नाटकों का अभिनय करना, सहृदय जनों को समाज प्रीति देने वाला, देश की कुचालों को सुधारने वाला और कैसा कुशल करने वाला है। इसका सब गुण उन नाटक देखने ही से उन पर प्रगट हो जायगा और इसी भाँति प्रतिकूलता के बंधन से छूटकर अनुकूलता भूषण से भूषित होकर नाटक-दर्शन रूपी अलौकिक कुसुम कानन में घूमने-फिरने से अनिर्वचनीय आनंद पावेंगे और उसके काव्यों के वायु के (की) ठंडी और सुगंधित झकोरों के उनके जी की कली खुल जायगी, नाटकों के अभिनय करने में जो स्वच्छंदता होती है उसे छोड़कर-उससे देश का कितना उपकार होता है कि हम लिख नहीं सकते ...”¹⁶

लाला श्रीनिवासदास के नाटक ‘रणधीर प्रेममोहिनी’ की प्रस्तावना स्वयं भारतेंदु ने लिखी थी। इसके अंत में जो गीत दिया गया है, उसमें नाटक रचने और देखने का आग्रह स्पष्ट है। स्वयं लाला श्रीनिवासदास ने ‘तप्ता संवरण’ की प्रस्तावना में नट और सूत्रधार संवाद नाटक से होने वाले लाभों को गिनाया है --

“नट -- आज तो लाला श्रीनिवासदास रचित तप्ता संवरण नाटक करिये और यह भी बतलाइये नाटक करने से क्या लाभ होता है।

सूत्रधार -- क्या तुम नहीं जानते ? प्रथम तो मन बहलाने के लिए यह बहुत उत्तम उपाय है, दूसरे नाटककार समय पर रुप वाणी स्वभाव बदल सक्ता है, तीसरे नाटक के द्वारा सैकड़ों हजारों वर्ष की बातें प्रत्यक्षवत् दृष्टिगोचर हो जाती हैं इसलिए राजा लोगों को इसका अभ्यास करना अत्यंत आवश्यक है।

नट -- यह ठीक, पर अब तो इस देश में कोई भलामानस नाटक करै तो उसकी बड़ी चर्चा हो।

सूत्रधार -- हाँ, अब तो ऐसे ही है, पर पहले यह बात न थी, क्योंकि होती तो कालिदासादि महाकवि नाटक न रचते और नाटक उत्तम काव्यों की गणना में न होता, देशान्तर में तो इसका अब भी बड़ा प्रचार है। ईश्वर करै यहाँ के मनुष्य भी इसका आनंद लें।”¹⁷

लाला श्रीनिवासदास ने ‘रणधीर प्रेममोहिनी’ के निवेदन में भी लिखा -- “ पुस्तकों में पीटार्क के लेखानुसार ‘जामे जमशेद’ की तरह संसार की सब चीजें दिखाई देती हैं, परन्तु जो लोग पुस्तक पढ़कर उसकी राह से उन चीजों का रूप अपने मन में नहीं बना सक्ते उनके लिए नाटक की रीति बहुत हितकारी है। सर टाम्स ओबरबरी लिखता है कि संसार में ‘पाठशाला’ की अपेक्षा भी नाटकशाला ज्यादा जरूरी है क्योंकि पढ़ने की अपेक्षा अनुभव सै लोग ज्यादा सीखते हैं, देखो नाटक में वर्तमान अथवा हजारों वर्ष पहले की चाह जिस बात को इस समय अपनी आँखों सै देख सक्ते हो।”¹⁸

और ‘संयोगिता स्वयंवर’ भी नाटक के प्रचार-प्रसार की भावना को नट और नटी के माध्यम से लाला श्रीनिवासदास ने व्यक्त किया :

“नट -- नाटकों के अभिनय करने में चित्र-विनोद के सिवाय और क्या गुण है, और इसका प्रचार शिष्ट-जनों में कब से पाया जाता है ?

सूत्रधार --

इसमें सबसे विशेष गुण तो ये प्रतीत होता है कि अभिनयकर्ता अपने चित्त पर पूरा अधिकार रख सकता है, अभिनय देखने से दर्शकों के चित्त पर उस चरित्र के प्रत्यक्ष देखने का सा अनुभव हो जाता है बहुत प्राचीन काल से देवता स्वर्ग में उसका सुखानुभव करते आए हैं जैसे विक्रमोर्वशी में लक्ष्मी स्वयंवर वृत्तांत लिखा है और 'उत्तरराम चरित्र' में तो श्री रामायण के अभिनय से साक्षात् सर्वेश्वर रामचंद्र जी के चित्त पर बड़े भारी असर होने का भाव दरसाया गया है।¹⁹

भारतेंदु ने नाटक²⁰ पुस्तिका में समसामयिक 50 नाटकों की सूची प्रस्तुत की और हिन्दी नाटकों के उद्भव काल पर संतोष व्यक्त करते हुए लिखा -- “ धन्य है विद्या का प्रकाश जहाँ के लोग नाटक किस चिड़िया का नाम है इतना भी नहीं जानते थे, भला वहाँ अब लोगों की इच्छा इधर प्रवृत्त तो हुई।”²¹

स्वयं भारतेंदु ने अठारह रूपक लिखे। लाला श्रीनिवासदास ने मात्र चार नाटकों एवं एक उपन्यास (परीक्षा गुरु) की रचना की। किन्तु उनकी इन्हीं कृतियों पर उनकी अक्षय कीर्ति का स्तंभ खड़ा है। उनका सर्वोत्तम नाटक 'रणधीर प्रेममोहिनी' है। कमलमोहिनी भंवरसिंह नाटक की प्रस्तावना में बताया गया है कि श्रीनिवास दास कृत रणधीर प्रेममोहिनी (6 दिसंबर 1871) नाटक कई बार खेला गया।²² इस नाटक में कुल 9 पुरुष पात्र एवं 4 स्त्री पात्र हैं। पाँच अंकों में विभाजित इस नाटक का घटना-स्थल स्वयंवर सभा है। यह ऐतिहासिक-रोमैंटिक नाटक है, जिसमें जगह-जगह आधुनिक चेतना का स्वर भी मिलता है।

लाला श्रीनिवासदास ने 'सदादर्श पत्र' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन किया। 'सदादर्श पत्र' के प्रकाशन के संदर्भ में 'भारतेंदु-मंडल' के लेखक ब्रजरत्नदास ने जो टिप्पणी लिखी वह निम्नवत् है - “सं.1931 वि. में दिल्ली से लाला जी ने 'सदादर्श' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन आरंभ किया, जिसे दो वर्षों से कुछ अधिक दिनों तक इन्होंने चलाया और उसके बाद सं. 1933 वि. में यह 'कविवचनसुधा' में मिला दिया गया। इस सम्मिलित रूप में कुछ दिन निकलने के बाद जब भारतेंदु जी ने सुधा प. चिंतामणि धड़फुल्ले को दे दिया तब इसका अंत हो गया। लाला जी कभी कभी कविवचन सुधा तथा भारतेंदु (वृन्दावन) में लेख भी दिया करते थे। इन लेखों का संग्रह अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। सं. 1940 के भारतेंदु में 'सदाचरण' एक लेख प्रकाशित हुआ है, जो पठनीय है। हरिश्चंद्र चंद्रिका जून सन् 1974 में 'भारत की समृद्धि' नामक एक लेख छपा है।”²³

लाला श्रीनिवासदास का लिखा उपन्यास परीक्षा गुरु (1882 ई.) हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास माना जाता है। मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए श्रीनिवासदास को नाटक की विधा अपर्याप्त लगी। इसीलिए वे 'परीक्षा गुरु' को संसारी वार्ता कहते हैं जो जीवन के यथार्थ अनुभवों की अभिव्यक्ति है। लंबे शिक्षाप्रद उपदेशों और कथा विन्यास के ढीलेपन के बावजूद भारतीय नवजागरण की अभिव्यक्ति करने वाली यह कृति समाज सुधार, स्वदेशी आंदोलन, स्वातंत्र्य भाव तथा आमदनी और व्यय के अनुपात पर विचार करती है। “ 'परीक्षा गुरु' में यद्यपि आधुनिक उपन्यास के सभी गुण विद्यमान नहीं हैं फिर भी यह आगामी उपन्यास साहित्य में वैचारिक विमर्श की महत्त्वपूर्ण भूमिका की ओर संकेत करता है।”²⁴

स्वयं लाला श्रीनिवासदास के अनुसार, “ अब तक नागरी और उर्दू भाषा में अनेक तरह की अच्छी-अच्छी पुस्तकें तैयार हो गई हैं, परन्तु मेरे इस रीति से कोई नहीं लिखी गई हैं, इसलिए अपनी भाषा में यह नयी चाल की पुस्तक होगी।” आगे उन्होंने इस 'नयी चाल' की व्याख्या करते हुए लिखा “ अपनी भाषा में अब तक जो वार्तारूपी पुस्तकें लिखी गई हैं उनमें अक्सर नायक-नायिका वगैरह का हाल ठेठ से

सिलसिलेवार लिखा गया है जैसे राजा, बादशाह, सेठ-साहूकार का लड़का था ... उसके मन में बात से रुचि हुई और उसका यह परिणाम निकला ... ऐसा सिलसिला इसमें कुछ भी नहीं है।”²⁵ वस्तुतः जो विचार परंपरा से प्रचलित हैं केवल उनसे ‘परीक्षा गुरु’ की रचना संभव नहीं थी। बदली परिस्थितियों में जीवन को परिचालित करने वाली समस्याओं से मुँह मोड़कर नहीं चला जा सकता था। परंपरागत कथा को छोड़कर यथार्थवादी वस्तु को ग्रहण करना लेखक के लिए जरूरी हो गया था। बुर्जुआ सभ्यता, पूँजीवाद और मध्यवर्ग के उदय के परिणामस्वरूप परंपरागत समाज में विघटन हो रहा था, ऐसी दशा में समाज के यथार्थ चित्रण की आवश्यकता थी, जिनके पात्र अपनी दुर्बलताओं-सबलताओं समेत मानव का प्रतिनिधित्व कर सकें। इस नए विचारों ने ‘परीक्षा गुरु’ के लिए विषयवस्तु का निर्माण किया।

लाला श्रीनिवासदास की रचनाओं में खड़ी बोली का प्रारंभिक रूप मिलता है। उन्होंने ‘रणधीर प्रेममोहिनी’ की भाषा के विषय में भूमिका में लिखा है - ‘हिन्दी’ है जिसे दिल्ली से बनारस के परे तक किराड़ों आदमी बोलने वाले हैं।’ किन्तु लालाजी की खड़ी बोली और आज की खड़ी बोली में बहुत अंतर है। भारतेंदु युग में पाई जाने वाली खड़ी बोली की “वर्तमान खड़ी बोली की तुलना में स्थान-स्थान पर वर्तनी-भेद के कारण ‘उत्रे’, ‘सुत्रे’, ‘फांसे’ आदि रूप तथा ‘लिखौती’, ‘हिचिर मिचिर’ सभों जैसे अनेक अप्रचलित रूप प्राप्त होते हैं।”²⁶ भारतेंदु ने भाषा की अनेक शैलियाँ अपनाई, भाषा का संवर्धन, परिष्कार तथा उसकी स्वरूप प्रतिष्ठा उनका का लक्ष्य था। देश में प्रचलित कुरुचिपूर्ण साहित्यिक भावना की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं -- “मीर हसन की मसनवी और इंदरसभा पढ़ाकर छोटेपन ही से लड़कों का सत्यानाश मत करो।”²⁷ भारतेंदु की साहित्य और भाषा संबंधी विचारधारा ने समकालीन लेखकों को प्रभावित किया। लाला श्रीनिवासदास उन लेखकों में से हैं जिनकी भाषा में अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों और मुहावरों का प्रयोग मिलता है। इनकी भाषा में भारतेंदु के समान ‘इस्पर’ ‘सक्ता’ इत्यादि रूप प्राप्त होते हैं। इनकी भाषा का एक उदाहरण ‘परीक्षा गुरु’ से देखा जा सकता है -- “निस्संदेह उस्का गाना अच्छा था परंतु पंडित जी अपनी अभिज्ञता बताने के लिए बेसमझे बुझे हुए लट्टू हुए जाते थे। समझने वालों का सिर मौके पर अपने आप हिल जाता है परंतु पंडितजी का सिर इस्समय मतवालों की तरह घूम रहा था।”²⁸

लाला श्रीनिवासदास ने जिस तरह की भाषा अपने नाटकों, निबंधों एवं उपन्यास में प्रयुक्त की है उससे उनके भाषिक प्रकृति के ज्ञान का पता चलता है। भारतेंदु युग की तद्भव तथा प्रांतज शब्द-प्रधान, स्थान-स्थान के उच्चारण के आधार पर लिखित अव्यवस्थित भाषा में लालाजी की भाषा अपना अलग स्थान रखती है। शब्दों में अल्पप्राणीकरण का प्रयास अर्थात् जहाँ-जहाँ महाप्राण ध्वनियाँ आई हैं, उन्हें अल्पप्राण बनाना उन्हें उचित लगा है जैसे ‘हाथ’ की जगह ‘हात’ झूठा - झूटा, हठ - हट, पिघलना - पिगलना, ढूँढना - ढूँडना, ढिटाई - ढिटार्ई, चिढ़ - चिड़, बग्धी - बग्गी। मध्यव्यंजन लोप के उदाहरण के तौर पर घबराहट - घबराट का प्रयोग उनकी रचनाओं में मिलता है। कुछ शब्दों के प्रयोग केवल इनके अपने हैं -- “इसकी पेचीली कहन से दर्पन की परछाँई के समान अर्थ समझ में आता है, पर यह पकड़ में नहीं आती।”²⁹

- (i) ये बातें मेरी राह में अच्छी हैं (पृ0-14)
- (ii) अच्छा ? फिर आप खुलकर क्यों नहीं कहते आपके निकट लाला साहब को बहकाने वाला कौन-कौन हैं (पृ0-186)
- (iii) ऐसे जीतब पर धिक्कार है। (पृ0-84)

भाषा में चापल्य लाने का काम मुहावरों द्वारा किया जाता है। मुहावरों का प्रयोग लोक और संस्कृति, भाषा और जनमानस में पैठ रखने वाला व्यक्ति ही कर सकता है। “लाला श्रीनिवासदास कई

भाषाओं के विद्वान थे, इसलिए उनकी भाषा में गति और शब्द-भंडार में विविधता मिलती है। उसमें तत्सम, तद्भव देशी और विदेशी सभी प्रकार के शब्द और मुहावरों का प्रयोग हुआ है।”³⁰ उदाहरणार्थ -- “ इस्मे कुछ संदेह नहीं ” हरकिशोर हुज्जत करने लगा, “ मैं ठेठ सै देखता आता हूँ कि आप मुझको देखकर जलते हैं, मेरी और मदनमोहन की मित्रता देखकर आपकी छाती पर साँप लोटता है, आपने हमारा परस्पर बिगाड़ कराने के लिए कुछ थोड़े उपाय किये ? मदनमोहन के पिता को थोड़ा भड़काया? जिस दिन मेरे लड़के की बरात में शहर के सब प्रतिष्ठित मनुष्य आए थे उनको देखकर आपके जी मैं कुछ थोड़ा दुख हुआ ? शहर के सब प्रतिष्ठित मनुष्यों सै मेरा मेल देखकर आप नहीं कुढ़ते ? आप मेरी तारीफ सुनकर कभी अपने मन में प्रसन्न हुए ? ”³¹

लाला श्रीनिवासदास के गद्य लेखन में पद्य का भी पर्याप्त प्रयोग मिलता है। कवि न होने के बावजूद उनके उपन्यास और नाटकों में देशी - विदेशी कवियों की कविताओं, उक्तियों का अनुवाद मिलता है। नीति एवं वैराग्य काव्य, लिखने वाले कवियों गंग, घनानंद, तुलसीदास, वृंद, गिरिधर कविराय और कई अन्य कवियों के उद्धरण नाटकों और उपन्यास में दिए गए हैं। ‘रणधीर और प्रेममोहिनी’ में कहा गया है --

बिधना कोपै हंस पर, हरै कमल बन बास

पै जल दुग्ध विभेद गुण, किहिं बिधि करै बिनास ?

यह भर्तृहरि के निम्नलिखित श्लोक का अनुवाद है --

अभ्योजिनीवननिवासाविलासमेव, हंसस्य हंति नितरां कुपितो विधाता

नत्वस्य दुग्ध जलभेदविधौ प्रसिद्धां, वैदग्धकीर्तिम पहर्तुम्सौ समर्थः ।

लाला श्रीनिवासदास न केवल उच्चकोटि के प्रतिभासंपन्न लेखक थे, बल्कि जीवन में एक निश्चित उद्देश्य को रखकर उन्होंने रचना की। भारतेंदु मंडल में “ चारों लेखकों में (हरिश्चंद्र, प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी) प्रतिभाशालियों का मनमौजीपन था पर लाला श्रीनिवासदास व्यवहार में दक्ष और संसार का ऊंचा-नीचा समझने वाले पुरुष थे, अतः उनकी भाषा संयत और साफ सुथरी तथा रचना बहुत कुछ सोदेश्य होती थी। ”³²

लाला श्रीनिवासदास की यथार्थ दृष्टि बहुत प्रखर थी, निश्चित उद्देश्य और प्रयोजन को ध्यान में रखकर लिखी गयी रचनाएं खड़ी बोली के तत्कालीन प्रचलित रूप को अभिव्यक्त करती हैं। लालाजी की भाषा की अपनी अलग शैली है। उन्होंने दिल्ली के आसपास की भाषा को स्टैंडर्ड मानकर उसी में अपनी रचनाएं प्रस्तुत कीं और “ खड़ी बोली की तत्कालीन सीमाओं को पहचानकर स्थानीय प्रयोगों से बचने की बहुत कोशिश की परंतु उनकी भाषा विकृत पँछाही उच्चारण के आधार पर लिखे शब्द और प्रयोगों से पूर्णतया बच न सकी। ”³³

भारतेंदु ने जब लिखना शुरू किया था तब वे अकेले थे, धीरे-धीरे राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, श्रीनिवासदास आदि उनसे जुड़े। इन सभी लेखकों में भारतेंदु के प्रति बहुत वफ़ादारी थी। भारतेंदु का जीवन और साहित्य समकालीन लेखकों के लिए अनुकरणीय था। बालमुकुंद गुप्त के लिखे हुए प्रतापनारायण मिश्र के जीवन चरित्र से यह पता चलता है कि भारतेंदु को ये लोग आदर्श मानते थे -- “ पंडित प्रतापनारायण मिश्र में बहुत-सी बातें बाबू हरिश्चंद्र की सी थीं। कितनी ही बातों में यह उनके बराबर और कितनी ही में कम थे, पर एक आध में बढ़कर भी थे। ... जिस गुण में वह कितनी ही बार हरिश्चंद्र के बराबर हो जाते थे, वह उनकी कवित्व शक्ति और सुंदर भाषा लिखने की शैली थी। हिन्दी गद्य और पद्य के लिखने में हरिश्चंद्र जैसे तेज, तीखे और बेधड़क थे, प्रतापनारायण भी वैसे ही थे। ”

रामविलास शर्मा ने लिखा है कि “भारतेंदु की आत्मा प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट आदि समर्थ लेखकों में उद्दीप्त होकर देश और साहित्य की सेवा करती रही।” इस सूची में यदि हम लाला श्रीनिवासदास का नाम भी जोड़ दें तो अनुचित न होगा। ‘परीक्षा गुरु’ उनका एकमात्र उपन्यास है और अन्य रचनाओं को छोड़ भी दें तो मात्र यही कृति भारतेंदु युगीन औपन्यासिक शिल्प का पहला मुखर प्रमाण है। 1882 में जब इसका प्रकाशन हुआ तब बालकृष्ण भट्ट का ‘रहस्य कथा’ उपन्यास ‘हिन्दी प्रदीप’ में प्रकाशित हो ही रहा था। स्वयं भट्टजी ने ‘हिन्दी प्रदीप’ में इसकी समीक्षा करते हुए उसे ‘उपन्यास’ कहा था। ‘परीक्षा गुरु’ को हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास होने का सौभाग्य मिला क्योंकि उससे पूर्व जितने भी उपन्यास ‘देवरानी जिठानी’ की कहानी, ‘वामा शिक्षक’, ‘भाग्यवती’ प्रकाशित हुए उनकी तुलना में इसमें कथ्य की नवीनता तो थी साथ ही शिल्प की भी ताज़गी थी। कथा लेखन के क्षेत्र में पाठकों के सामने अभी तक सिलसिले से, अविच्छिन्न कथानक रखने का प्रचलन था, ‘परीक्षा गुरु’ ने इस रुढ़ि को तोड़ा और पाठकों की रुचि को एक नयी दिशा दी। विपर्यस्त समयानुक्रम की आयोजना हिन्दी पाठक के लिए बिल्कुल नयी थी। प्रारंभ के आठ प्रकरणों में लेखक ने पात्रों का व्यवस्थित परिचय स्वयं नहीं दिया - नवें प्रकरण से सभी पात्रों का परिचय दिया गया। भारतेंदु ने अपने निबंध ‘भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है’ में जिन विचारों को व्यक्त किया था, ‘परीक्षा गुरु’ के प्रमुख पात्र ब्रजकिशोर का चरित्र प्रायः उन्हीं आदर्शों की अभिव्यक्ति है।

भारतेंदु ने 9 फरवरी 1874 की कविवचन सुधा में लिखा था -- “अब भी हमलोगों को कला-कौशल्य की ओर ध्यान देना चाहिए लोगों को तो अंगरेजी वस्तुओं की रुचि लगी है तो अंगरेजों के समान सब पदार्थों के कारखाने यहाँ नियत किए जायं पर अभी यहाँ के व्यापारियों में एतना सामर्थ्य नहीं है कि अंगरेजों के समान लोहा पीतल इत्यादि मौल्यवान पदार्थ लेकर मिट्टी के वस्तु तक बनावें जैसे कि अंगरेजी व्यापारी माल भेजने लगे देखो बढ़ई आदि छोट-छोटे व्यापारियों को काम मिलना कठिन हो गया है यहाँ तक कि घरों की खिड़कियों दरवाजे आदि सब विलायत से बनकर आते हैं जब तक देश के व्यापारी इस विषय में उद्योग न करेंगे तब तक कार्य सिद्ध भली भाँति नहीं हो सकता जिस लिए केवल एतने ही से एतदेशीय वस्त्र आदि की वृद्धि होनी कठिन है और अंगरेजों के समान वस्तु तैयार करना बिना सबों की सहायता के नहीं हो सकता।”

इसी के समानांतर ‘परीक्षागुरु’ में लाला ब्रजकिशोर के वक्तव्य को देखा जा सकता है -- “जबतक दो मनुष्यों का अथवा दो देशों का बल बराबर रहता है, कोई किसी को नहीं हरा सकता, परंतु जब एक उन्नतिशाली होता है, आकर्षणशक्ति के नियमानुसार दूसरे की समृद्धि अपने आप उसकी तरफ को खिंचने लगती है देखिए जब तक हिन्दुस्थान में और देशों से बड़कर मनुष्य के लिए वस्त्र और सब तरह के सुख की सामग्री तैयार होती थी, रक्षा के उपाय ठीक, ठीक बन रहे थे, हिन्दुस्थान का वैभव प्रतिदिन बढ़ता जाता था परंतु जब से हिन्दुस्थान का एका टूटा और देशों में उन्नति हुई बाफ और बिजली आदि कलों के द्वारा हिन्दुस्थान की अपेक्षा थोड़े खर्च, थोड़ी महनत, और थोड़े समय में सब काम होने लगा हिन्दुस्थान की घटती के दिन आ गए। जबतक हिन्दुस्थान इन बातों में और देशों की बराबर उन्नति न करेगा यह घाटा कभी पूरा न होगा।”³⁴

1875 की हरिश्चंद्र चंद्रिका में प्रकाशित लेख ‘भारतखंड की समृद्धि’ में लाला श्रीनिवासदास ने लिखा है -- “पनचक्की, धुआँचक्की, सूत कातने की कल, वस्त्र सीने की कल, लोहा ढालने की कल, भाँत-भाँत की घड़ियाँ, अरगन बाजा, गैस की रोशनी, फोटोग्राफ और छापा आदि ... मनुष्य ही नै बनाई है

और भारतखंड के निवासी भी चैतन्य होकर इस विषय में श्रम करें तो सब कुछ बना सकते हैं परंतु हाथ पर हाथ धर बैठे रहने से तो कुछ नहीं होता है।”

स्पष्ट है कि हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास हिन्दी प्रदेश के नवजागरण की चेतना को वहन करने के साथ युगीन यथार्थ की अभिव्यक्ति भी कर रहा था। भारतीय वणिक वर्ग की युवा पीढ़ी अंग्रेजी शिक्षा और रहन-सहन से प्रभावित होकर प्रायः उसका अंधानुकरण कर रही थी। मथुरा के तत्कालीन जिलाधीश ग्रीव्ज़ ने ‘मथुरा : ए डिस्ट्रिक्ट मेमोयर’ में मथुरा के तत्कालीन सेठों के बारे में काफी कुछ लिखा है। अपनी फ़िज़ूलखर्ची और व्यावसायिक अदूरदर्शिता के कारण सेठ लक्ष्मणदास का व्यापार बहुत जल्दी ध्वस्त हो गया था। ग्रीव्ज़ ने लक्ष्मणदास के वैभव-प्रदर्शन और फ़िज़ूलखर्ची का वृहद् चित्रण किया है। श्रीनिवासदास ने उपन्यास ‘परीक्षा गुरु’ अपने ही मालिकों के व्यापारिक पतन के जीवन्त अनुभवों के आधार पर लिखा था।

* * *

पाद टिप्पणी

1. रस्साकशी - वीरभारत तलवार, पृ.397
2. वही, पृ.397
3. परीक्षा गुरु - लाला श्रीनिवासदास, पृ.145
4. राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य कुछ प्रसंग : कुछ प्रवृत्तियाँ, वीरभारत तलवार
5. हिन्दी प्रदीप - बालकृष्ण भट्ट, फरवरी 1880 अंक
6. परीक्षा गुरु - लाला श्रीनिवासदास, पृ.55
7. भाग्यवती, पृ.79, 1988 संस्करण, ऋषभचरण जैन एवं संतति प्रकाशन
8. राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य कुछ प्रसंग : कुछ प्रवृत्तियाँ, लेख : वीरभारत तलवार
9. क्वेस्ट एंड कंफ्रन्टेशन्स - अरविंद पोद्दार - 1800-1860, Indian Institute of advance studies, 1970, शिमला, पृ.88-89
10. भारत में अंग्रेज़ी राज (1929) भाग तीन - सुन्दरलाल, पृ.10
11. कविवचन सुधा - सं. भारतेन्दु
12. भारतेन्दु ग्रंथावली (खण्ड-एक) संकलन एवं संपादन - शिवप्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, पृ.788
13. नाटक पुस्तिका - भारतेन्दु
14. हरिश्चंद्र चंद्रिका, खण्ड-11, सं.3 दिसंबर 1844 ई.
15. भारतीय रंगमंच का विवेचनात्मक इतिहास - डॉ.अज्ञात, पृ.128
16. कविवचन सुधा - 17 अगस्त 1872 पृ.197-198
17. तप्ता संवरण - श्रीनिवासदास, पृ.1-2
18. रणधीर प्रेममोहिनी - श्रीनिवासदास, निवेदन
19. संयोगिता स्वयंवर, पृ.4
20. नाटक पुस्तिका - भारतेन्दु प्रस्तावना 1840
21. सत्यहरिश्चंद्र - भारतेन्दु, प्रस्तावना
22. भारतीय रंगमंच का विवेचनात्मक इतिहास - डॉ.अज्ञात
23. भारतेन्दु मंडल - ब्रजरत्नदास
24. हिन्दी उपन्यासों में बौद्धिक विमर्श - डॉ.गरिमा श्रीवास्तव
25. परीक्षा गुरु - लाला श्रीनिवासदास, पृ.8
26. भारतेन्दु की खड़ीबोली का भाषिक विश्लेषण - उषा माथुर, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ.24
27. भारतेन्दु उत्सावली, पृ.16
28. परीक्षा गुरु - लाला श्रीनिवासदास, पृ.33 (गणपत श्रीकृष्ण जी के छापखाने में छपा)
29. परीक्षा गुरु - लाला श्रीनिवासदास, पृ.295-296
30. श्रीनिवासदास ग्रंथावली - सं. श्रीकृष्णलाल
31. परीक्षा गुरु - लाला श्रीनिवासदास, पृ. पृ.295-296
32. हिन्दी साहित्य का इतिहास - संशोधित (छठा सं.) पृ.473
33. हिन्दी साहित्य कोश भाग-2 - सं. धीरेन्द्र वर्मा
34. परीक्षा गुरु - प्रकरण-7, पृ.53

अध्याय-3 हिन्दी उपन्यास का आरंभ और लाला श्रीनिवासदास

लाला श्रीनिवासदास की अक्षय कीर्ति का आधार-स्तंभ उनका एकमात्र उपन्यास 'परीक्षा गुरु' है। यह हिन्दी में सामाजिक चेतना को लेकर लिखा गया प्रथम मौलिक उपन्यास है। इसे अधिकांश आलोचक हिन्दी का प्रथम उपन्यास मानते हैं, जो सदादर्श प्रेस, दिल्ली से छपा। 'परीक्षा गुरु' के प्रथम संस्करण का मुखपृष्ठ इस प्रकार है¹ - परीक्षा गुरु, अर्थात् अनुभव द्वारा उपदेश मिलने की एक संसारी वार्ता, लाला श्रीनिवासदास प्रणीत "ऐश्वर्यमद पापिष्ठा मदा मान मदादयः। ऐश्वर्य मदमतो हि नापतित्वा विवुध्यते।।" भावार्थ, "और मदन ते विभव मद अति पापिष्ठ लखाय। वह उतरें अपने समय यह बिन बिपति न जाय।" - विदुर प्रजागरे, दिल्ली, सदादर्श प्रेस में छपी, सं.1939 विक्रमी में पहली बार, मूल्य 12 आने मात्र। पृ.सं.174

इसका समर्पण (डेडिकेशन) लाला श्री राम, एम.ए. अलवर को अंगरेज़ी भाषा और रोमन अक्षरों में 25 नवंबर 1882 को किया गया था। 'परीक्षा गुरु' की आलोचना दिसम्बर सन् 1882 ई. में 'हिन्दी प्रदीप' (जिल्द 6, सं.4) में छपी थी, जिससे ज्ञात होता है कि लाला श्रीनिवासदास ने प्रथम बार इसे स्वयं ही प्रकाशित किया था और 'सार-सुधानिधि' पत्र के पाठकों के बीच बिना मूल्य के वितरित किया था।² 'परीक्षा गुरु' का दूसरा संस्करण 1884 ई. में मुंबई गणपत कृष्ण छापाखाना में मुद्रित हुआ था।³ 'परीक्षा गुरु' का तीसरा संस्करण लाला श्रीनिवासदास के देहावसान के कई वर्षों बाद सन् 1918 ई. में मारवाड़ी ट्रेडर्स असोसिएशन कलकत्ता से प्रकाशित हुआ।⁴

'परीक्षा गुरु' के प्रथम संस्करण के मुखपृष्ठ पर पुस्तक का विवरण देते हुए कहा गया है - "परीक्षा गुरु अर्थात् अनुभव द्वारा उपदेश मिलने की एक संसारी वार्ता, लाला श्रीनिवासदास प्रणीत।" इसी पुस्तक के दूसरे संस्करण के पुनः प्रकाशन में भूमिका दी गई है, जिसमें इसे 'अपनी भाषा में नई चाल की पुस्तक' कहा गया है। प्रथम संस्करण में उद्धृत श्लोक, जो लेखक के अनुवाद के साथ उद्धृत है, वह उपन्यास के कथानक का केन्द्रीय ढाँचा है और दूसरे संस्करण में इसे 'नयी चाल' की पुस्तक कहकर 'नयी चाल' से अपना मंतव्य भी स्पष्ट किया है। इस नयी चाल से उनका तात्पर्य है प्रस्तुति का वह नया ढंग, जो अंग्रेज़ी उपन्यासों के 'पैटर्न' पर उन्होंने पहली बार हिन्दी में प्रयोग किया, वह नाटकीय प्रस्तुति, जिसके अंतर्गत कथा के परंपरागत ढाँचे, अर्थात् इतिवृत्तात्मक आरंभ के स्थान पर उन्होंने सौदागर की दुकान के दृश्य की योजना की है। उनके पात्रों का प्रथम परिचय भी पाठकों को उनके आपसी वार्तालाप से ही मिलता है। "अब तक नागरी और उर्दू भाषा में अनेक तरह की अच्छी-अच्छी पुस्तकें तैयार हो चुकी हैं, परंतु मेरे जान इस रीति से कोई नहीं लिखी गई, इसलिए अपनी भाषा में यह नई चाल की पुस्तक होगी पहले तौ पढ़ने वाले इस पुस्तक मैं सौदागर की दुकान का हाल पढ़ते ही चकरावेंगे क्योंकि अपनी भाषा मैं अब तक वार्ता रूपी जो पुस्तकें लिखी गई हैं उनमें अक्सर नायक-नायिका बगैर का हाल ठेठ सिलसिलेवार लिखा गया है जैसे 'कोई राजा बादशाह, सेठ, साहूकार का लड़का था उसके मन मैं इस बात सै यह रुचि हुई और उसका यह परिणाम निकला,' ऐसा सिलसिला इसमें कुछ भी नहीं मालूम होता।"

श्रीनिवासदास ने 'परीक्षा गुरु' को 'नई चाल' की पुस्तक माना। यह 'नई चाल' या नयापन उनकी यथार्थवादी कला और उनके गैर-रोमैटिक दृष्टिकोण में है। 'परीक्षा गुरु' में लेखक ने कहीं भी भावुकता को यथार्थ और व्यावहारिकता पर हावी नहीं होने दिया है। "मार्मिक से मार्मिक प्रसंगों में भी भावावेश संयत है और चित्रण यथार्थवादी। यहाँ तक कि प्राकृतिक दृश्यों की सुन्दरता का वर्णन करते समय भी वह भावपूर्ण

वर्णन ही करता है, व्यर्थ का चहचहाना नहीं शुरू कर देता जो कि उस समय बहुत से लेखकों की प्रवृत्ति थी।”⁵

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ‘परीक्षा गुरु’ को ‘अंग्रेज़ी ढंग’ पर लिखा हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास माना। परंपरा से प्रचलित विचारों मात्र से हिन्दी के मौलिक उपन्यास की रचना संभव नहीं थी। औपनिवेशिक जीवन की परिस्थितियों का प्रभाव भारतीय जनमानस पर पड़ रहा था। एक ओर तो सांस्कृतिक अभियंतन तथा संस्थागत आचार-व्यवहारों के सहारे समाज में शिक्षा की अवधारणा घर करने लगी थी, जिसमें अंग्रेज़ी शिक्षा का विशेष महत्त्व था। इस व्यवहार के फलस्वरूप एक नये सांस्कृतिक विश्व के द्वार भारतीयों के समक्ष खुले जिसका केन्द्र औपनिवेशिक शक्ति के महानगर में था और जिससे महानगर में उपनिवेश के लोगों में दासता और परावलंबन की मानसिकता की सृष्टि की।”⁶ साथ ही उनके आदर्श का स्रोत ब्रिटिश जीवन शैली बन गया। लाला श्रीनिवासदास ने ‘परीक्षा गुरु’ के माध्यम से ब्रिटिश जीवन शैली की बुरी बातों की नकल करने वाले प्रतिनिधि पात्र के रूप में लाला मदनमोहन जैसे पात्र की सृष्टि की। लेखक ने आदर्श चरित्र के रूप में वकील ब्रजकिशोर का चरित्र गढ़ा है, जिसके माध्यम से श्रीनिवासदास एक सीमा तक निज के आदर्श को व्यक्त करते हैं। ब्रजकिशोर सत्यवादी है, गरीबों का रहनुमा है, स्वतंत्र स्वभाव का है, मगर स्वेच्छाचारी नहीं। वह एक नैतिक चरित्र है जिसका आदर्श है ‘देशोन्नति’। ईश्वर तथा स्वधर्म पर विश्वास करके अपने मित्र मदनमोहन को चापलूसों और व्यर्थ के दिग्बावों से बचाने के लिए सलाह देता है। वह स्वयं व्यापारी नहीं है लेकिन अपने दोस्त को सावधानी से व्यापार और उसका प्रबंधन करने की सीख देता है। उसका मित्र मदनमोहन चापलूसों के चंगुल में फँस जाता है। विरासत में मिली संपत्ति को असावधानी के कारण संभाल नहीं पाता। चाटुकार मित्र उस पर अपना प्रभाव जमा लेते हैं। उनसे प्रभावित होकर वह अंग्रेज़ी जीवन शैली का अंधानुकरण करता है। यौवन और संपत्ति के मद ने उसे विवेकहीन अप्रामाणिक मनुष्य बना दिया है। शिंभूदयाल, चुन्नीलाल आदि चाटुकारों के प्रोत्साहन से उसकी धनराशि विलास, प्रदर्शन, आडंबर में पानी की तरह बह जाती है। घर और पतिव्रता पत्नी के प्रति विकर्षण और विलास तथा भौतिक ऐश्वर्य के प्रति आकर्षण दिनोंदिन बढ़ता चला जाता है। ब्रजकिशोर ही बुरे समय में उसकी सहायता करता है। लाला मदनमोहन आपाद्मस्तक ऋणग्रस्त है, अपनी आमद-खर्च का विवरण भी उसे नहीं मालूम होता, यहाँ तक कि ऋण न चुका पाने के कारण उसे कारागार से जाना पड़ता है, परंतु पतिव्रता पत्नी सुशीला के त्याग और सच्चे मित्र ब्रजकिशोर के सदुद्योग से मदनमोहन मुक्त होता है। यह अल्पकालीन विपत्ति एक परीक्षा के रूप में ही आती है। घटनाओं के नियोजन से लेखक इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि परीक्षा ही विपत्ति के माध्यम से अनुभव का पाठ पढ़ाने वाली गुरु है।

श्रीनिवासदास ने उपन्यास में बार-बार देशसेवा, देशोन्नति जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। यह ‘देशोन्नति’ शब्द ही श्रीनिवासदास के मन्तव्य को स्पष्ट करता है। वे देशोन्नति को राजनैतिक और सामाजिक संदर्भ में नहीं बल्कि नैतिक संदर्भ में ग्रहण करते हैं। उपन्यास के विभिन्न प्रसंगों से यह स्पष्ट होता है कि चरित्र की स्वच्छता, परोपकार, निर्धनों पर करुणा, विद्याभ्यास आदि गुण देशोन्नति के लिए अनिवार्य हैं। वैज्ञानिक प्रगति एवं तकनीक का ज्ञान, पूँजी पर मुनाफ़े को बढ़ाना, उद्योग-धंधों पर भरपूर ध्यान देना ही ‘देशोन्नति’ है। ब्रजकिशोर उपन्यास में कहता है - “अपने देश में उपयोगी विद्याओं की चर्चा फैलाना, अच्छी-अच्छी पुस्तकों का और भाषाओं में अनुवाद करवाकर अथवा नयी बनवाकर अपने देश में प्रचार करने और देश के सच्चे शुभचिंतक और योग्य पुरुषों को उत्तेजना देने और कलाओं की अथवा खेती आदि की सच्ची देश हितकारी बातों के प्रचलित करने में सच्चा धर्म समझते हैं।”⁷

‘परीक्षा गुरु’ में औपनिवेशिक शासन की आलोचना का नितांत अभाव है। लाला श्रीनिवासदास ने ‘देशोन्नति’ को सिर्फ आर्थिक पक्ष से जोड़कर देखा है लेकिन अंग्रेज़ी राज के रहते हुए देश की उन्नति हो सकती है या नहीं, इस प्रश्न से वे बचते हैं। तत्कालीन शिक्षित भद्रवर्ग के लिए 1857 ई. के गदर के बाद ब्रिटिश राज के प्रति अपनी आस्था को दिखाना, उनके अपने अस्तित्व के लिए ज़रूरी था। लाला जी हिन्दी सेवी थे और भारतीय जनता की उन्नति के पैरोकार भी लेकिन उच्चाधिकारियों के कृपापात्र बने रहने की आकांक्षा उनके स्वाभिमान और विद्रोही प्रवृत्तियों को बहुत दूर तक नियंत्रित करती थी। ब्रिटिश शासन के प्रति वफ़ादारी (हो या न हो) का इजहार करते रहना भद्रवर्ग की राजनीतिक संस्कृति का प्रमुख अंग था। श्रीनिवासदास ने शायद इसीलिए अपने उपन्यास में देश के पराभव और अवनति के लिए आर्थिक कारणों को उत्तरदायी माना है। वे कहीं भी औपनिवेशिक शासन की आलोचना करते दिखाई नहीं देते। विद्वानों ने इसे समाज-सुधार, देश प्रेम या नैतिक शिक्षा का उपन्यास न मानकर आर्थिक उपन्यास ही माना है, क्योंकि इस उपन्यास के केन्द्र में व्यापारिक कुशलता और वैज्ञानिक प्रबंधन का मूलमंत्र है। इसका नायक मदनमोहन ऐसे धनाढ्य व्यापारियों का प्रतिनिधि है जो अंग्रेज़ी सभ्यता की ऊपरी तड़क-भड़क के प्रभाव में आकर और चाटुकर मित्रों के चंगुल में फँसकर फिज़ूलखर्ची करता है और अपना व्यापार चौपट कर लेता है।⁸

लेकिन ‘परीक्षा गुरु’ मात्र व्यापारिक प्रबंधन का मूलमंत्र बताने वाला उपन्यास नहीं है। श्रीनिवासदास ने अपने मालिकों के उत्थान और पतन को बहुत नज़दीक से देखा था। ‘मथुरा : ए डिस्ट्रिक्ट मेमोयर’ में मथुरा के तत्कालीन जिलाधीश ग्रीवज़ ने वहाँ तत्कालीन सेठों, महाजनों, विशेषकर लक्ष्मणदास के वैभव-प्रदर्शन और फिज़ूलखर्ची के बारे में विस्तार से लिखा है। फिज़ूलखर्ची और असावधानी के कारण इनका सारा व्यापार बहुत जल्दी ध्वस्त हो गया था। श्रीनिवासदास ने ‘परीक्षा गुरु’ की रचना अपने ही मालिकों के व्यापारिक पतन के जीवंत अनुभवों के आधार पर की। उपन्यास के अंत में मदनमोहन का यह संकल्प करना कि अपने अनुभव का लाभ दूसरों को देने के लिए वह इन दिनों का सब वृत्तांत छपवा कर प्रसिद्ध कर देगा - श्रीनिवासदास की अनुभवसंपन्न दृष्टि का परिचायक है।

‘परीक्षा गुरु’ में लेखक को आद्योपान्त देश की अवनति की चिंता है। यह दूसरी बात है कि अवनति के सामाजिक और राजनीतिक कारणों को वे विश्लेषित नहीं करते। आत्मोन्नति द्वारा ही देशोन्नति हो सकती है। शिक्षा की सर्वसुलभता और ज्ञान का प्रसार उपन्यास को व्यापक फलक प्रदान करता है। बदले समय में अंग्रेज़ी शिक्षा के अंधानुकरण और उससे उत्पन्न पीढ़ियों के अंतराल का भी उल्लेख किया गया है। “मदनमोहन का पिता पुरानी चाल का आदमी था। वह अपना बूता देख कर काम करता था और जो करता था वह कहता नहीं फिरता था। उसने केवल हिन्दी पढ़ी थी। वह बहुत सीधा सादा मनुष्य था, परंतु व्यापार में बड़ा निपुण था। साहूकारे में उसकी बड़ी साख थी। परंतु अब समय बदल गया है। इस समय में मदनमोहन के विचार कुछ और ही हो रहे हैं जहाँ देखो अमीरी ठाठ” आगे पिता-पुत्र के स्वभाव का अंतर बताते हुए श्रीनिवासदास कहते हैं कि पिता ने “मदनमोहन को बचपन में हिन्दी-फारसी और अंग्रेज़ी भाषा सिखाने के लिए अच्छे-अच्छे उस्ताद नौकर रख दिये थे परंतु वह क्या जानता था कि भाषा ज्ञान विद्या नहीं, विद्या का दरवाज़ा है।” अंग्रेज़ी भाषा के ज्ञान ने औपनिवेशिक भारत में लार्ड मैकाले के निहित स्वार्थों को किस तरह पूरा किया है यह उद्धरण इसका प्रमाण है। श्रीनिवासदास भारतीय औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत अंग्रेज़ी शिक्षा और भारतीय पुरातन शिक्षा प्रणाली की तुलना करते दिखाई देते हैं। मैकाले ने लिखा था - “हमें भारत में इस तरह की एक श्रेणी पैदा कर देने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए जो कि हमारे और उन करोड़ों भारतवासियों के बीच, जिन पर हम शासन करते हैं, समझाने-बुझाने का काम करे। ये लोग ऐसे

होने चाहिए जो कि केवल रक्त और रंग की दृष्टि से हिन्दोस्तानी हों, किन्तु जो अपनी रुचि, भाषा, भावों और विचारों की दृष्टि से अंगरेज़ हों।”⁹

अंगरेज़ी भाषा और साहित्य की शिक्षा के साथ-साथ जहाँ तक हो सके देशी भाषाओं को दबाना भी मैकाले और विलियम बेंटिक का उद्देश्य था। जबकि “अंगरेज़ों के आगमन से पहले सार्वजनिक शिक्षा और विद्या प्रचार की दृष्टि से भारत संसार के अग्रतम देशों की श्रेणी में गिना जाता था भारत के जिस प्रांत में कंपनी का शासन जमता गया। उस प्रांत से ही यह सहस्रों वर्ष की पुरानी शिक्षा प्रणाली सदा के लिए मिटती गई।”¹⁰ भारतीय शिक्षा प्रणाली इतनी उत्कृष्ट थी कि ब्रिटेन में उसका अनुकरण किया जाता था। सन् 1823 ई. में अंगरेज़ कलेक्टर ए.डी.कैम्पबैल ने एक रिपोर्ट में लिखा था - “जिस व्यवस्था के अनुसार भारत की पाठशालाओं में बच्चों को लिखना सिखाया जाता है और जिस ढंग से कि ऊँचे दर्जे के विद्यार्थी नीचे दर्जे के विद्यार्थियों को शिक्षा देते हैं और साथ-साथ अपना ज्ञान भी पक्का करते रहते हैं, वह समस्त प्रणाली निःसंदेह प्रशंसनीय है और इंग्लिस्तान में उसका जो अनुसरण किया गया है, उसके सर्वथा योग्य है।”

अंगरेज़ी भाषा और साहित्य की शिक्षा के साथ-साथ जहाँ तक हो सके देशी भाषाओं को दबाना भी मैकाले और विलियम बेंटिक का उद्देश्य था। लेकिन भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग ने भारतीय जनजीवन में शिक्षा का प्रसार करने का बीड़ा उठाया, और इसका लाभ ब्रिटिश सत्ता को भी मिला। ब्रिटिश राज द्वारा प्रशासनिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने तथा भारतीयों के मन में उपनिवेशवादी व्यवस्था के प्रति सकारात्मक रुख अपनाने के लिए शिक्षा की कल्पना एक ऐसे प्रभावकारी माध्यम के रूप में की गई जिसके सहारे अंग्रेज़ी संस्थाओं और मूल्यों को आदर्श संस्थाओं और मूल्यों के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता था। लार्ड मैकाले ने इस संदर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा-- “मुझे लगता है कि अपने सीमित साधनों को देखते हुए पूरे जनसमाज को शिक्षित करना हमारे लिए असंभव है। अभी हमें एक ऐसा वर्ग तैयार करने में पूरा जोर लगा देना चाहिए जो हमारे और जिन करोड़ों लोगों पर हम शासन करते हैं उनके बीच दुभाषियों का काम करे। यह रक्त और रंग की दृष्टि से भारतीयों का लेकिन रूचियों, मतां, नैतिक मूल्यों तथा बुद्धि की दृष्टि से अंग्रेज़ों का वर्ग होगा हमें देशी बोलियों का परिष्कार करने, पश्चिमी पारिभाषिक शब्दावली से शब्द उधार लेकर उन बोलियों को समृद्ध करने और उन्हें क्रमिक रूप से आम आबादी तक ज्ञान पहुंचाने के सक्षम वाहन बनाने का कार्य इसी वर्ग पर छोड़ देना चाहिए।”¹¹

यह स्पष्ट था कि ब्रिटिश नीति का चरम उद्देश्य समाज के एक वर्ग को शिक्षित करके उससे प्रशासनिक कर््यों को सुचारु ढंग से चलवाना था, किन्तु राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन के लिए आम जनता का शिक्षित होना अनिवार्य है -- यह भारतीय बुद्धिजीवियों को बराबर अनुभव हो रहा था, विशेषकर ईश्वरचंद्र विद्यासागर, महादेव गोविन्द रानाडे, वीरेशलिंगम और सैयद अहमद खाँ एक विशिष्ट वर्ग तक ही शिक्षा को सीमित रखने के पक्षधर नहीं थे, अतः उन्होंने देशी भाषाओं के माध्यम से जन-शिक्षा को प्रचारित-प्रसारित करने की दिशा में कदम बढ़ाए, साथ ही इस बात का भी ध्यान रखा कि इन भाषाओं की सरल शैली विकसित हो सके। जिसके माध्यम से वे अपनी बात ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुंचा सकें, फलतः समृद्ध और प्रबुद्ध साहित्य, और ज्ञान के नए क्षितिजों का परिचय जनता को प्राप्त हो सके। मुद्रण कला के प्रचार - प्रसार और फलतः पत्र - पत्रिकाओं ने उनके विचारों को जनता तक प्रभावशाली ढंग से पहुंचाने का कार्य किया, बंगाल से ‘संवाद कौमुदी’ (राजा राममोहन राय) ‘तत्त्वबोधिनी’ पत्रिका (देवेन्द्रनाथ और अक्षय कुमार) बंबई से बालशास्त्री जांबेकर का ‘दिग्दर्शन’ और ‘बंबई दर्पण’ भाऊ महाजन का प्रभाकर और दादाभाई नौरोजी का

‘रस्तगोपत्तार’ आंध्रप्रदेश में वीरेशलिंगम की ‘विवेकवर्धिनी’ तथा बुचैया पंटालु की ‘हिन्दू जन संस्कारिणी’ इस दिशा में प्रमुख थीं।

ईस्ट इंडिया कंपनी ने औपनिवेशिक भारत पर अपनी पकड़ बनाने के लिए, प्रशासनिक संरचना को बेहतर ढंग से लागू करने के लिए एक कार्य और किया - वह था भारतीय इतिहास, भारतीय समाज की नैतिक और भौतिक अवस्थाओं का विवेचन - विश्लेषण तथा संसाधनों की खोज। यही खोज आगे चलकर औपनिवेशिक नीति के निर्माण का आधार बन कर सामने आयी, जिसके संदर्भ में वारेन हेस्टिंग्स ने लिखा — “ज्ञान का प्रत्येक संग्रह और विशेष रूप से ऐसा संग्रह जो इन लोगों के साथ सामाजिक सम्पर्क से प्राप्त होता है जिन पर हम अपनी विजय के आधार पर प्रभुत्व का प्रयोग करते हैं, राज्य के लिए उपयोगी है। ... यह दूरस्थ भावनाओं को आकृष्ट करता है और अनुकूल बनाता है, इससे उस बेड़ी का भार कम हो जाता है जिससे देशी लोग जकड़े हुए हैं,¹² और इससे हमारे अपने देशवासियों के हृदय में परोपकार के दायित्व की भावना उत्पन्न होती है।”

ब्रिटेन के प्राच्यवादियों जिनमें विलियम जॉस का नाम प्रमुख है - ने एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल की स्थापना की। इस सोसायटी ने जिन अनुसंधानों पर बल दिया उससे ब्रिटेन को भारतीय सभ्यता के विषय में प्रचुर जानकारी प्राप्त हुई जिससे उपनिवेशवाद की दो आवश्यकताओं की पूर्ति हुई -- अतीत की उपलब्धियों के प्रकाश में वर्तमान के पतन की विवेचना करते हुए औपनिवेशिक शासन की अनिवार्यता एवं आवश्यकता को जनमानस में ग्राह्य बनाया गया तथा शासक वर्ग को उपनिवेश के लोगों के बारे में महत्वपूर्ण जानकारियाँ मिलीं।

भारत के पूर्णरूप से औपनिवेशिक शासन के तहत आते ही देशी सांस्कृतिक विरासत के अतिक्रमण पर बल दिया जाने लगा अर्थात् अब निहित उद्देश्य सामने आ गए। ब्रिटिश राज ने देश के बुद्धिजीवी वर्ग के सहयोग से देश की संस्कृति पर अपने वर्चस्व की स्थापना करने का प्रयास किया और अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त बुद्धिजीवी वर्ग नई सांस्कृतिक रूचि तथा संवेदनशीलता का वाहक बन गया। बुद्धिजीवी मध्यवर्ग अब अंग्रेजी संस्कृति को अपनाने और सीख लेने लगा, प्रकारांतर से आदर्श मानने लगा। लेकिन देशी भाषाओं के माध्यम से ज्ञान का प्रसार भारतीय जनमानस के लिए ज्यादा आत्मीय था, जिसके विपरीत औपनिवेशिक प्रणाली से प्रदत्त ज्ञान और विज्ञान भारतीयों के लिए अब भी विदेशी था क्योंकि उसकी ज्ञानशास्त्रीय मान्यताओं की जड़ें भारत में नहीं थीं। वैसे भी इस शिक्षा का उद्देश्य भारतीयों पर अपना वर्चस्व स्थापित करना ही था, जिसके तहत समाज के एक छोटे-से वर्ग को ही शिक्षित किया जाना था।

ब्रिटेन सरकार की इस शिक्षा नीति के कारण समाज में अंग्रेजी की पढ़ाई पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा -- इस सव्यवहार के फलस्वरूप जिस सांस्कृतिक संसार के द्वारा खुले उसका केन्द्र औपनिवेशिक शक्ति के महानगर में था और उधर उस महानगर ने उपनिवेश की जनता में ओ मेनोनी के शब्दों में कहें तो ‘परावलंबन की मानसिद्धता’ और एडवर्ड शिल्स के शब्दों में ‘प्रांतीयता’¹³ की भावना की सृष्टि की। इससे सभी क्षेत्रों साहित्य, रंगमंच, चित्रकला, संगीत, आहार, वार्तालाप में सांस्कृतिक आदर्श का स्रोत ब्रिटिश जीवन शैली बन गयी। सांस्कृतिक कारक के रूप में प्रेस और मुद्रण कला के प्रचार-प्रसार से लिखित शब्द का महत्व उन्नीसवीं सदी के दौरान बढ़ता ही गया। अब पाठक और लिखित शब्द के बीच एक नया संबंध स्थापित हुआ। घर में खाली वक्त को भरने का काम छपी हुई पुस्तकें करने लगी और शिक्षित मध्यवर्ग इसकी ओर आकर्षित हुआ। इस तरह पश्चिम का अपरिचित सांस्कृतिक संसार उनके निकट आ गया। उपन्यास जैसी नयी साहित्यिक विधाएँ इसी प्रक्रिया की उपज थीं।

नवजागरण के दौर में लगभग सभी भारतीय भाषाओं में उपन्यासों की रचना हुई। कलकत्ता और बंबई प्रेसीडेंसी में अंग्रेज़ी शिक्षा और साहित्य का प्रचलन देश के अन्य सभी प्रांतों से पहले हुआ। कलकत्ते का पहला कॉलेज 1821 ई. में प्रारंभ हुआ, जिसमें पाठ्यक्रम में अंग्रेज़ी उपन्यास पढ़ाये जाते थे। इस तरह बंगला का पहला उपन्यास 'अलालेर घरेर दुलाल' (लेखक प्यारीचाँद मित्रा) 1858 ई. में प्रकाशित हो चुका था। मराठी में भी सन् 1857 ई. में 'यमुना पर्यटन' शीर्षक उपन्यास बाबा पद्मन जी लिख चुके थे। उर्दू में उपन्यास लेखन हिन्दी से थोड़ा पहले हुआ। उर्दू और हिन्दी एक ही प्रदेश की भाषाएँ होने के बावजूद उर्दू को परंपरा के रूप में फारसी दास्तानें मिलीं, जिन्होंने उर्दू उपन्यास के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। हिन्दी में ऐसी किसी परंपरा का नितान्त अभाव था। 19 वीं सदी के पूर्वार्द्ध से मध्य तक फारसी ही सरकारी कामकाज की भाषा बनी हुई थी। फ़ारसी के हटने के बाद उर्दू का व्यावहारिक रूप में व्यापक प्रयोग किया जाने लगा। उर्दू में नजीर अहमद ने 1868-69 के लगभग 'मिरात उल उरूस' लिखा। हिन्दी में पहला उपन्यास सन् 1870 ई. में पंडित गौरीदत्त ने 'देवरानी-जेठानी की कहानी' लिखा। श्रद्धाराम फिल्लौरी ने 1877 ई. में 'भाग्यवती' की रचना की और श्रीनिवासदास का 'परीक्षा गुरु' 1882 ई. में प्रकाशित हुआ।

अर्थात् हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यासों में यदि तीन महत्वपूर्ण रचनाओं को हम लें तो कालक्रम की दृष्टि से 'परीक्षा गुरु' तीसरे स्थान पर ठहरता है। लेकिन किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले इन तीनों उपन्यासों पर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है।

हिन्दी के प्रारंभिक काल में रचित इन तीनों उपन्यासों - देवरानी जेठानी की कहानी, भाग्यवती और परीक्षा गुरु - में सबसे बड़ी समानता यह है कि ये तीनों ही विशिष्ट अर्थ में यथार्थवादी परंपरा के हैं। हिन्दी उपन्यास रचना के प्रारंभिक काल में ही लेखकों का गैर रोमैंटिक यथार्थवादी दृष्टिकोण हमें तब और भी विशिष्ट लगता है जब हम अन्य भाषाओं के प्रारंभिक उपन्यासों से उनकी तुलना करते हैं। मराठी के प्रारंभिक उपन्यासों में यथार्थपरकता का अभाव दृष्टिगत होता है। जबकि हिन्दी के प्रारंभिक दौर में लिखे गए इन तीनों उपन्यासों के केन्द्र में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक समस्याएँ हैं। "1870 ई. में मेरठ निवासी और देवनागरी लिपि आंदोलन के ध्वजवाहक पंडित गौरीदत्त (पौष सुदी 2 विक्रम संवत् 1893 सन् 1836 ई. से माघ शुक्ल, 14 गुरुवार, विक्रम संवत् 1962 तदनुसार 8 फरवरी 1906 ई.) कृत 'देवरानी जेठानी की कहानी' का प्रकाशन हुआ।"¹⁴ इसका प्रथम संस्करण 1870 ई. में मेरठ के जियाई छापाखाना से मुद्रित हो कर प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास स्त्री शिक्षा के उद्देश्य से लिखा गया था, जिसमें अशिक्षित और शिक्षित स्त्रियों का तुलनात्मक वस्तुनिष्ठ विश्लेषण किया गया। इसके प्रथम संस्करण की भूमिका में लेखक पंडित गौरीदत्त ने लिखा है - "स्त्रियों के पढ़ने-पढ़ाने के लिए जितनी पुस्तकें लिखी गई हैं, सब अपने-अपने ढंग और रीति से अच्छी हैं परंतु मैंने इस कहानी को नए रंग-ढंग से लिखा है। मुझको निश्चय है कि दोनों स्त्री-पुरुष इसको पढ़कर अति प्रसन्न होंगे और बहुत लाभ उठाएँगे स्त्रियों की वह बातें जो आज तक नहीं लिखी गई मैंने खोजकर सब लिख दी हैं और इस पुस्तक में ठीक-ठीक वही लिखा है जैसा आजकल बनियों के घरों में हो रहा है। बाल बराबर भी अंतर नहीं है।"

सन् 1877 ई. में पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी द्वारा लिखित और सन् 1887 ई. में उनकी विधवा महताब कौर द्वारा प्रकाशित 'भाग्यवती' उपन्यास भी इसी तरह स्त्री-शिक्षा का उद्देश्य लेकर लिखा गया। इसके प्रथम संस्करण के मुखपृष्ठ पर ही इसे 'स्त्री शिक्षा की अपूर्व पुस्तक' और 'स्वदेशीय बालिकाओं के उपकारार्थ' अधिघोषित किया गया था। यह उपन्यास बहुत जनप्रिय हुआ था और सन् 1887 ई. से 1912 ई. तक इसके पाँच संस्करण निकल चुके थे। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने श्रद्धाराम फिल्लौरी की चर्चा करते हुए

लिखा - “‘भाग्यवती’ नाम का एक सामाजिक उपन्यास भी संवत् 1934 में उन्होंने लिखा, जिसकी बड़ी प्रशंसा हुई।”¹⁵ ‘भाग्यवती’ की भूमिका में श्रद्धाराम जी ने लिखा था - “बहुत दिनों से इच्छा थी कि कोई ऐसी पोथी हिन्दी भाषा में लिखूँ कि जिसके पढ़ने से भारतखण्ड की स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्राप्त हो।” ‘भाग्यवती’ का उद्देश्य भारतीय स्त्रियों में नवजागरण उत्पन्न करना था। यह नवजागरण गृहस्थ धर्म की शिक्षा में निहित था।

भाग्यवती, देवरानी जेठानी की कहानी और परीक्षा गुरु इन तीनों उपन्यासों में कुछ समानताएँ और कुछ असमानताएँ हैं। यदि कथातत्त्व पर विचार करें तो ‘भाग्यवती’ में किस्सागोई सबसे ज्यादा है। पाठकों के लिए पर्याप्त रोचक सामग्री इसमें है। पारिवारिक और सामाजिक जीवन की कई यथार्थ समस्याओं को इस उपन्यास में बड़ी प्रखरता से उठाया गया है। इसमें विधवा विवाह की बड़ी ज़ोरदार वक्रालत की गई है। ‘देवरानी जेठानी की कहानी’ के माध्यम से मेरठ के तत्कालीन समाज का समाजशास्त्रीय अध्ययन किया जा सकता है। इस उपन्यास का वैशिष्ट्य यह है कि इसमें यथार्थ की बड़ी प्रखर अभिव्यक्ति हुई है। इसमें एक ही घर की दो स्त्रियों की कथा है। देवरानी लेखक का आदर्श है, वह कर्म की उपासिका है। नारी, नारी जीवन, नारी धर्म पर केंद्रित यह उद्देश्यपूर्ण उपन्यास है।

इन दोनों उपन्यासों और ‘परीक्षा गुरु’ में उपन्यासकारों ने आदर्श चरित्र रचे हैं। लेकिन ये चरित्र सिर्फ काल्पनिक नहीं हैं, बल्कि उस समय के वास्तविक आदर्श थे। तीनों उपन्यास अपने समय के वास्तविक द्वंद्व - यथार्थ और आदर्श के द्वंद्व को व्यक्त करते हैं।

इन तीनों उपन्यासों में ही औपनिवेशिक भारत की आलोचना का अभाव है। श्रद्धाराम फिल्लौरी द्वारा भारतीय समाज के उत्थान के लिए उपन्यास में कई जगह अंग्रेज़ी शासन के प्रति आभार प्रकट किया गया है - भाग्यवती कहती है : “इनके समान चतुर और प्रजा का भला चाहने वाला और कौन है?”¹⁶ भाग्यवती के पिता बताते हैं कि सरकारी पुलिस लोगों को तंग करती है, रिश्वत खाती है, चोर-ठगों से मिली होती है। काशीराज पूछते हैं : “क्या अंगरेजी राज्य में भी ऐसा अनर्थ हो सकता है जैसाकि आपने पुलिस वालों को सुनाया?” पुलिस वालों के अत्याचारों के लिए भारतीय मनोवृत्ति को उत्तरदायी ठहराया गया है। लड़कियों के बाल विवाह की आलोचना करते हुए पंडित जी कहते हैं - “जब से यहाँ मुसलमानों का राज्य हुआ तब से छुटपन का विवाह अच्छा समझने लग गए।” आगे वे कहते हैं - “सो अब तो ईश्वर ने हमको उस महाराज अंगरेज की प्रजा बनाया है जो कि कभी अन्याय नहीं करना चाहता, फिर अब छोटी अवस्था में लड़की-लड़कों के विवाह से क्या प्रयोजन?”¹⁷

श्रीनिवासदास के उपन्यास के कथ्य का मूल है - देश की अवनति की चिंता। मदनमोहन और उसके चापलूस मित्रों के गुट जैसे पात्रों की योजना द्वारा लेखक ने भारत की अवनति के कारणों को पहचानने की कोशिश की है। वे भारत की अवनति और इंग्लैंड की उन्नति के कारणों को वैज्ञानिक तर्क से सिद्ध करते हैं - “जब तक दो मनुष्यों का अथवा दो देशों का बल बराबर रहता है, कोई किसी को नहीं हरा सकता परन्तु जब एक उन्नतिशाली होता है। आकर्षण शक्ति के नियमानुसार दूसरे की समृद्धि अपने आप उसकी तरफ़ खिंचने लगती है जबसे हिन्दुस्तान का एका टूटा और देशों में उन्नति हुई बाफ और बिजली वालों के द्वारा हिन्दुस्तान की अपेक्षा थोड़े खर्च थोड़ी मेहनत और थोड़े समय में सब काम होने लगा, हिन्दुस्तान की घटती के दिन आ गये, जब तक हिन्दुस्तान इन बातों में और देशों के बराबर उन्नति न करेगा यह घाटा कभी पूरा न होगा परन्तु हाथ हिलाए बिना अपने आप ग्रास मुख में नहीं जाता, नई नई युक्तियों का उपयोग किये बिना काम नहीं चलता।”

श्रीनिवासदास ने प्रसंग भेद से कई बार इन अभिप्रायों की निंदा की है अर्थात् हिन्दुस्तान की अवनति का कारण यहीं के निवासियों की प्रकृति है। इस प्रकृति में फूट, आलस्य और निरुद्यमता कूट-कूट कर भरी हुई है। उन्होंने कृत्रिमता, व्यर्थ के खर्च और असावधानी की निंदा की है।

सावधानी को उन्नति का कारण बताने वाले लाला ब्रजकिशोर के रूप में स्वयं श्रीनिवासदास ही अपने विचारों को अभिव्यक्त करते हैं। इसलिए 'सावधानी' का प्रकरण अन्य सभी प्रसंगों से ज्यादा लंबा है। वह सावधानी को सभी प्रकार की उन्नति का मूल मानते हैं उनकी दृष्टि में - "...मनुष्यों की प्रकृति और पदार्थों की जुदी, जुदी शक्ति का परस्पर संबंध विचार कर दूर और पास की हरेक बात का ठीक परिणाम समझ लेना पूरी सावधानी है।"

हिन्दुस्तान की अवनति के कारणों पर विचार करते हुए श्रीनिवासदास कहते हैं - "हिन्दुस्तानियों में अब तक विद्या का व्यसन नहीं है, समय की कदर नहीं है, भले-बुरे कामों की पूरी पहचान नहीं है इसी से यहाँ के निवासी अपना बहुत समय औरों की बातों पर हासिये लगाने में और इधर-उधर की जटिल हांकने में खो देते हैं।"

देशोन्नति का उपाय सुझाते हुए वे लिखते हैं - "हिन्दुस्तानियों को आजकल हर बात में अंग्रेजों की नकल करने का चस्का पड़ ही गया है तो वे भोजन वस्त्रादि निरर्थक बातों की नकल करने के बदले उनके सच्चे सद्गुणों की नकल क्यों नहीं करते? देशोपकार, कारीगरी और व्यापारादि में उनकी-सी उन्नति क्यों नहीं करते? अपना स्वभाव स्थिर रखने में उनका दृष्टांत क्यों नहीं लेते? अंग्रेज़ी की बातचीत में किसी की निज की बातों की चर्चा करना अत्यंत दूषित समझा जाता है। किसी की तनख्वाह या किसी की आमदनी, किसी का अधिकार या किसी का रोज़गार, किसी की संतान या किसी के घर का वृत्तांत पूछने में, पूछा होय तो कहने में, कहा होय तो सुनने में वे लोग आनाकानी करते हैं और किसी समय तो किसी का नाम पता और उम्र पूछना भी ढिठाई समझा जाता है। अपने निज के संबंधियों की बात से भी अज्ञान रहना वह लोग बहुधा पसंद करते हैं। रेल में, जहाज में, खाने-पीने के जलसों में, पास बैठने में और बातचीत करने में, जान पहचान नहीं समझी जाती।

वह लोग किराये के मकान में बहुत दिन पास रहने पर बल्कि दुख दर्द में साधारण रीति से सहायता करने पर भी दूसरे की निज की बातों से अनजान रहते हैं। जब तक पहचान स्थिर करने के लिए दूसरे की तरफ से सवाल न हो अथवा किसी तीसरे मनुष्य ने जान पहचान न कराई हो, नित्य की मिलामेटी अथवा साधारण रीति से बातचीत होने पर भी जान पहचान नहीं समझी जाती और जान पहचान हुए पीछे भी मित्रता नहीं करते पर मित्रता हुए पीछे भी दूसरे की निज की बातों से अनजान रहना अधिक पसंद करते हैं। उनके यहाँ निज की बातें पूछने की रीति नहीं है। उनको देश संबंधी बातें करने का इतना अभ्यास होता है कि निज के वृत्तान्त पूछने का अवकाश ही नहीं मिलता।"

जिस शान शौकत और झूठी तड़क-भड़क को मदनमोहन अपने सामाजिक सम्मान का मूल कारण समझता है उसकी तुलना में वास्तविक सम्माननीय व्यक्ति का आदर्श बताते हुए वे कहते हैं - "तुम जानते हो कि अंग्रेज़ लोग बड़े-बड़े खिताबों के बदले सज्जन जैसे साधारण अर्थ ये हैं कि मर्यादाशील, मन्न और सुधरे विचार का मनुष्य हो, निस्संदेह ये गुण यहाँ के बहुत से अमीरों में है परंतु इसके अर्थ पर अच्छी तरह दृष्टि की जाय तो इसका आशय बहुत गंभीर मालूम देता है। जिस मनुष्य की मर्यादा मन्न और सुधरे विचार केवल लोगों को दिखाने के लिए न हो बल्कि मन से हो - अथवा जो सच्चा प्रतिष्ठित, सच्चा वीर और पक्षपात रहित, न्याय-परायण हो, जो अपने शरीर को सुख देने के लिए नहीं बल्कि धर्म से औरों के हक में अपना

कर्तव्य संपादन करने के लिए जीता हो, अथवा जिसका आशय अच्छा हो, जो दुष्कर्मों से सदैव बचता हो, वह सच्चा सज्जन है।”

अंग्रेजों की उत्कृष्टता और अनुकरणीयता का यह आतंक उपन्यास में आद्यंत फैली दृष्टांत कथाओं में भी दिखायी देता है। लगभग हर पृष्ठ पर एक न एक कहानी किसी के आदर्श आचरण का वृत्तांत सुनाती हैं। नीति और नियम के वाक्य तो बहुत बार भारतीय संदर्भ में भी उद्धृत हैं। कहीं एकाध कथाएँ भी ली गई हैं। इस दृष्टि से ब्रजकिशोर अपनी परंपरा से कटे हुए नहीं बल्कि गहराई के साथ जुड़े हुए हैं परंतु आदर्श आचरण की अधिकतर कहानियाँ विदेशों से ही ली गई हैं। लिडिया का बादशाह कारुन और साइरस, साइराक्यूज का बादशाह डियोन तथा एथेन्सवासी केलीप्स, पाइसिस्ट्रेट्रेस नामक एथेन्सवासी, डायोनिसियस व साइराक्यूज के सभासद, चीन का शाहन्शाह हो एन एवं मंत्री टिची, ईरान का बादशाह आरटा जेरेक्सीस, एथेन्सवासी आरिस्टाइडीज़, क्लाटीनस और प्रीवरनम के विद्रोही, मेरीडोन का राजा पीरस और फेसीशियस, नौशेरवां और खजांची, इंग्लैण्ड की एलिज़ाबेथ, मेरी और लेडी जेन ग्रे, टरकी का खलीफा मौन्तासर, नैपोलियन, अस्तितालीस इत्यादि कथाएँ उपन्यास का अभिन्न अंग हैं।

इस तरह ‘परीक्षा गुरु’ में औपनिवेशिक शासन की आलोचना का अभाव दिखाई देता है। सन् 1882 ई. में ‘परीक्षा गुरु’ प्रकाशित हुआ और यह दौर औपनिवेशिक शासन से भारतीयों के मोहभंग का दौर था। नवजागरण के सभी लेखकों में यह मोहभंग अपने-अपने ढंग और परिमाण में व्यक्त हो रहा था। जहाँ श्रीनिवासदास का व्यावहारिक कौशल अथवा व्यापारिक अनुभवों की परिधि उन्हें मोहभंग की अभिव्यक्ति से रोकती रही वहीं भारतेन्दु में अंग्रेज़ शासकों की प्रशंसा में कविता लिखने के बावजूद, मोहभंग की अभिव्यक्ति लालाजी से अधिक मिलती है। इसी मोहभंग की अभिव्यक्ति बालकृष्ण भट्ट में भारतेन्दु की अपेक्षा बहुत अधिक है।

श्रीनिवासदास के अनुभव की अपनी सीमाएँ थीं इसलिए समाज-सुधार के विभिन्न पहलुओं की जैसी प्रखर अभिव्यक्ति ‘भाग्यवती’, ‘देवरानी जेठानी की कहानी’ या ‘वामाशिक्षक’ जैसे उपन्यासों में मिलती है, वैसी ‘परीक्षा गुरु’ में नहीं मिलती। ‘देशोन्नति’ के संदर्भ में समाज के पतन के कारणों को भारतीय के स्वभाव एवं चरित्र में ढूँढने का प्रयास किया गया है, किन्तु परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़ा देश सर्वांगीण उन्नति कैसे कर सकता है - इस प्रश्न से लेखक साफ बच निकला है। श्रीनिवासदास के इस व्यवहार के पीछे उनका दिल्ली का निवासी होना भी हो सकता है। यह वह समय था जब 1857 के गदर के बाद तमाम प्रगतिशील सुधार आंदोलन दिल्ली में चल रहे थे। दिल्ली के ही मास्टर रामचंद्र ने गदर से पहले विज्ञान की पुस्तकों के अनुवाद के लिए एक सोसायटी स्थापित की थी। आर्यसमाज के आंदोलन का प्रभाव भी दिल्ली और आसपास के प्रदेशों पर काफी पड़ रहा था। 1857 ई. के गदर के बाद अंग्रेजों ने बड़ी नृशंसता से हजारों लोगों को मार-काट दिया था। सुधार-आंदोलनों के प्रभावस्वरूप तथा तत्कालीन भद्र वर्ग की व्यावहारिक कुशलता और गदर के परिणामों को देखते हुए यदि ‘श्रीनिवासदास’ ने उपन्यास लिखते हुए अतिरिक्त सावधानी बरती तो उसके पीछे औपनिवेशिक शासन के बने रहने की आकांक्षा नहीं बल्कि भारतीयों के स्वावलंबी होने की नैतिक महत्वाकांक्षा ही काम कर रही थी। फिर श्रीनिवासदास यह भी चाहते थे कि उनका उपन्यास ज्यादा से ज्यादा पाठकों तक पहुँचे। संभवतः उन्हें यह आशंका रही हो कि ब्रिटिश राज की आलोचना करने से उपन्यास को जब्त भी कर लिया जा सकता है। उनके सामने ‘देवरानी जेठानी की कहानी’ का आदर्श भी था, प्रकाशित होते ही तत्कालीन पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध के लोकशिक्षा निदेशक ने जिसकी दो सौ प्रतियाँ खरीद ली थीं। यह अपने आप में एक अनूठी घटना थी। उक्त प्रदेश के लेफ्टिनेंट

गवर्नर के पत्रांक 2672 दिनांक 24 जून, 1870 ई. के आदेशानुसार इसके लेखक पं.गौरीदत्त को एक सौ रुपए का सरकारी पुरस्कार भी मिला था। यह हिन्दी के किसी उपन्यास अथवा कथा-साहित्य पर सरकार की ओर से दिया जाने वाला पहला पुरस्कार है।¹⁸

श्रीनिवासदास देशोन्नति के उद्देश्य से लेखन में प्रवृत्त हुए थे। उनके लिए लेखन व्यवसाय नहीं बल्कि उद्देश्य था। भारतेन्दु मंडल के लेखक ब्रजरत्न दास ने लिखा है - “लाला जी ने इतनी छोटी अवस्था पाते और बहुधंधी होते हुए भी हिन्दी की सेवा में भारतेन्दु जी तथा उनके मंडल का हाथ बँटाने में यथाशक्ति सहयोग दिया था। जबकि मंडल के अन्य मुख्य नक्षत्रों में सजीवता तथा मनमौजीपन का बोलबाला था तब लाला जी में व्यवहार-दक्षता तथा सांसारिक अनुभव बढ़ा-चढ़ा था।” श्रीनिवासदास अपने देशवासियों की रुचि और आर्थिक स्थिति की दरार को पहचानते थे। हिन्दी के प्रति प्रेम का ही यह प्रमाण था कि वे जहाँ कहीं जाते वहाँ के प्रसिद्ध हिन्दी सेवियों से अवश्य मिलते। उन्होंने “रणधीर प्रेममोहिनी’ की प्रतियाँ कविवचन सुधा के ग्राहकों, को ‘परीक्षा गुरु’ की सार सुधानिधि के ग्राहकों को तथा ‘संयोगिता स्वयंवर’ की ‘भारतेन्दु’ मथुरा के ग्राहकों को बिना मूल्य वितरित की थीं और भाषावर्द्धिनी सभा के सदस्यों को भी इसी प्रकार दी थीं।¹⁹

लाला श्रीनिवासदास ने ‘परीक्षा गुरु’ को ‘संसारी वार्ता’ कहा। इस ‘संसारी वार्ता’ में उन्होंने उस समय प्रचलित देशोन्नति की विचारधारा को मिलाकर ‘नयी चाल’ की पुस्तक लिखी। उनकी दृष्टि में उपन्यास का आधार अनुभव है - वे जीवन और समाज में अपने अनुभवों को एक वार्ता की शकल में ढालकर प्रस्तुत करते हैं। वे नैतिक शिक्षा को उपन्यास का लक्ष्य मानते हैं। नैतिक शिक्षा देने के अनंतर वे तत्कालीन समाज में प्रचलित बाल-विवाह, बहु विवाह, अशिक्षा जैसे मुद्दों पर ज्यादा ध्यान नहीं देते। लेकिन वे देश की जनता के वैज्ञानिक दृष्टिकोण की वकालत करते हैं और इस प्रक्रिया में ब्रिटिश मानसिकता की प्रशंसा भी। नवजागरण के इस दौर में, जबकि भारतेन्दु समेत कई रचनाकार और समाजसुधारक गो-हत्या, नागरी लिपि, हिन्दी भाषा और फारसी लिपि, सरकारी सेवाओं में हिन्दू मुसलमानों का प्रतिशत और ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की ‘फूट डालो राज करो’ की नीति से प्रभावित होकर सांप्रदायिक विचारों को अपनी रचनाओं में स्थान दे रहे थे, वहीं लाला जी ने अपनी विचारधारा को इस सांप्रदायिक सोच से प्रभावित नहीं होने दिया। उपन्यास में एक ही पात्र मुसलमान है, जो हकीम है, और उसके चरित्र को लेखक ने कहीं भी विकृत नहीं किया है। इसकी तुलना में पं.गौरीदत्त और श्रद्धाराम फिल्लौरी के उपन्यासों में किसी मुसलमान पात्र की अवतारणा नहीं की गई है।

ऐसे समय में जबकि भारतेन्दु और उनके सहयोगी किसी न किसी रूप में मुसलमानों की आलोचना कर रहे थे श्रीनिवासदास ने निर्विवाद रूप से सांप्रदायिकता और औपनिवेशिक शासन की आलोचना की अभिव्यक्ति के संदर्भ में अपनी तटस्थता दिखायी।

अब यदि अन्य भारतीय भाषाओं के उपन्यासों पर एक दृष्टि डालें तो सन् 1870 ई. से 1917 ई. तक किसी भी हिन्दी उपन्यास में औपनिवेशिक शासन की महत्वपूर्ण आलोचना का अभाव लक्षित होता है। कुछ पत्र-पत्रिकाओं और मंचों पर कुछ छोटी-मोटी टिप्पणियों के अलावा ठोस रूप में औपनिवेशिक शासन की निंदा नहीं मिलती। इसके मूल में 1857 ई. के गदर के अंग्रेज़ सरकार द्वारा बर्बर दमन की स्मृतियाँ हो सकती हैं। स्वयं बालकृष्ण भट्ट जो पत्रों में प्रायः औपनिवेशिक शासन पर तीखी टिप्पणियाँ करते दिखाई देते हैं ‘नूतन ब्रह्मचारी’ तथा ‘एक अज्ञान सौ सुजान’ में ऐसी कोई आलोचना करते नहीं दिखाई देते। बंगला में 1882 ई. में बंकिमचंद्र का ‘आनंदमठ’ प्रकाशित हुआ, इस उपन्यास में भी अंग्रेज़ों की आलोचना नहीं बल्कि प्रशंसा की गयी है। इस उपन्यास का कथ्य विद्रोही हिन्दू संन्यासियों के गुप्त संगठन के आसपास घूमता है। ये

संन्यासी मीरजाफ़र के शासन को 'मुसलमानी राज' मानकर उनके खिलाफ़ लड़ते हैं। लेखक उपन्यास के अंत में अंगरेज़ी शासन को मित्रवत् बताते हुए कहता है कि संतानों (संन्यासियों) का विद्रोह इसलिए हुआ है ताकि अंगरेज़ी राज बन सके क्योंकि अंगरेज़ों के बिना राज हुए सनातन धर्म का उद्धार नहीं होगा। अंगरेज़ी राज में शिक्षा से हम हिन्दुओं को वह सांसारिक ज्ञान मिलेगा जिससे सनातन धर्म का उद्धार होगा। जब तक अंगरेज़ हम पर यह कृपा करते हैं, तब तक अंगरेज़ी राज बने रहना चाहिए।

'आनंदमठ' की इस राजनैतिक चेतना से बंकिमचंद्र को औपनिवेशिक शासन का पक्षधर मान लेना गलत होगा। वैसे ही श्रीनिवासदास का 'सांप्रदायिक मुद्दों' से बच निकलना या औपनिवेशिक शासन की आलोचना न कर भारतीयों के आत्मन्वेषण पर बल देना उनकी समाज-सुधार की भावना का परिणाम माना जाना चाहिए। हाँ, ये बात ज़रूर है कि नवजागरण के सभी लेखकों की विचारधारा एवं मानसिकता एक-सी नहीं थी जो भारत की उन्नति के न होने के कारणों की खोजबीन अपने समाज के भीतर करते हैं। इसी खोजबीन की अगली सीढ़ी राष्ट्रवादी आलोचना थी, जिसने कालांतर में औपनिवेशिक शासन के विरोध में राजनीतिक संघर्ष का सैद्धांतिक आधार प्रस्तुत किया।

उपन्यास के प्रारंभ में ही लेखक ने अपना मंतव्य व्यक्त किया है—“जो बात सौ बार समझाने से समझ में नहीं आती वह एक बार की परीक्षा से भलीभांति मन में बैठ जाती है और इसी वास्ते लोग परीक्षा को गुरु मानते हैं।” स्पष्ट है कि श्रीनिवासदास ने परीक्षा को गुरु सिद्ध करना चाहा है। लेकिन परीक्षा से ही मित्र एवं शत्रु, उचित-अनुचित की पहचान होती है यह तो जाना हुआ शाश्वत सत्य है। सिर्फ़ इसे ही पुनर्स्थापित करना तो श्रीनिवासदास का उद्देश्य नहीं रहा होगा। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन में भारतीयों की गुलामी के मूलभूत कारणों - विशेषकर व्यक्तिगत विचार एवं व्यवहार में परिवर्तन की आकांक्षा से इस उपन्यास के कथानक की रचना की गई। लेखक वास्तव में “अपने समय में कुछ अंग्रेज़ों के प्रभाव से और कुछ अपनी ही विकृत मध्यकालीनता के प्रभाव से देश और समाज में उत्पन्न होने वाली कुछ सामाजिक और चरित्रगत विसंगतियों और विकृतियों का उद्घाटन कर तथा उसका समाधान प्रस्तुत कर कुछ शिक्षा देना चाहता है। इस प्रकार समकालीन परिवेश के यथार्थ को मूर्त कर भारतीय जीवन में उत्पन्न होनेवाली कुछ कुरूपताओं की पहचान उभारना और एक विशिष्ट प्रभावशाली घटना की चोट से एक प्रकाश पैदा करना ही इस उपन्यास का उद्देश्य है।”²⁰

ब्रजकिशोर के रूप में लाला श्रीनिवासदास ने स्वयं को ही चित्रित किया है। वह ऐसा आदर्श पात्र है जो नवजागरणकाल का प्रतिनिधि हो सकता है। वह एक ओर पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान, अंग्रेज़ों की व्यावहारिकता, मेहनत आदि गुणों को अपनाता है तो दूसरी ओर प्रबुद्ध गतिशील भारतीय चेतना की महान परंपरा को आत्मसात किये हुए है। उसमें पूर्व और पश्चिम की चेतना का अनोखा सम्मिश्रण है। वह चेतना संपन्न नए ज्ञान प्रवाह की जानकारी रखने-वाला परिश्रमी व्यक्ति है, जो समझदारी और सहिष्णुता से भटके हुए मित्र लाला मदनमोहन को सही राह पर ले आने में सफल होता है।

लाला मदनमोहन को पैतृक धन पर्याप्त मिला, लेकिन उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं कि उन्हें धन-संपत्ति की सुरक्षा कैसे करनी चाहिए। दिन-रात चापलूसों से घिरे लाला मदनमोहन कर्ज़ के बोझ से लदे हैं, लेकिन अंग्रेज़ों की झूठी नकल करते हैं। मुंशी चुन्नीलाल, मास्टर शंभूदयाल, पंडित पुरुषोत्तमदास, हकीम अहमदहुसैन, बाबू बैजनाथ आदि तरह-तरह के पेशेवाले लोग मदनमोहन की चापलूसी करते हैं, पैसा ँँठते हैं और उनकी गलत बातों में भी हाँ में हाँ मिलाते रहते हैं। लाला मदनमोहन को बहकाकर, उकसाकर नई चीज़ें खरीदवाते रहते हैं, जिनमें उनका हिस्सा बंधा रहता है। ब्रजकिशोर इन चापलूस दरबारियों की सच्चाई को

जानते हैं और बार-बार मदनमोहन को सचेत करते रहते हैं। उधर दरबारी और चापलूस सभासद मदनमोहन के विलासप्रिय मन को चाटुकारिता भरे शब्दों के कोमल स्पर्श से सहला कर और उकसाते हैं और लालाजी को ब्रजकिशोर के विरुद्ध करते रहते हैं क्योंकि उन्हें डर है कि मदनमोहन के संभल जाने पर उनको होने वाली आमदनी बंद हो जाएगी। मदनमोहन द्वारा ब्रजकिशोर को अपमानित करना इसी षड्यंत्र का परिणाम है। लेकिन ब्रजकिशोर मदनमोहन से विरक्त नहीं होता वह मित्र का भला करने के लिए हर समय सचेत रहता है।

मदनमोहन पर जब हरकिशोर पैसे के लिए कोर्ट में नालिश कर देता है, तब सारे चाटुकार मुंह मोड़ लेते हैं और मदनमोहन अकेला रह जाता है। ब्रजकिशोर के प्रयास से व्यापारियों का भंडाफोड़ हुआ तथा मदनमोहन मुकदमों से पार हुए तथा हवालात से मुक्त हुए। इसी परीक्षा से मुक्त होने पर ही मदनमोहन को शत्रु-मित्र का सत्य समझ में आ गया। अंततः मदनमोहन ने कृत्रिम और खोखली जिंदगी के स्थान पर एक ठोस यथार्थ तथा मूल्यवादी जीवन जीना शुरू किया।

‘परीक्षागुरु’ में ठोस कार्यव्यापार का अभाव दिखाई देता है। छोटे-छोटे संवादों की जगह लंबे-लंबे उबाऊ संवाद हैं जो कथारस में बाधा पहुँचाते हैं। उपन्यास में मानव जीवन, चरित्र की दुर्बलता-सबलता की यथार्थ अभिव्यक्ति अपेक्षित होती है, जिसकी कमी इस उपन्यास में खलती है। बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी प्रदीप (1882) दिसंबर, में इसकी समालोचना करते हुए लिखा था —“न जानिये क्यों हमें इस लेख में एक प्रकार का रूखापन जँचता है पदों का वह लालित्य और माधुर्य नहीं आया जैसा भारतेंदु के लेख में होता है नाटक वा उपन्यास के प्रधान अंग श्रृंगार और हास्य कभी-कभी वीर और करुण होते हैं सो उन सबों की इसमें कहीं झलक भी नहीं है क्या निरा विदुर प्रजागर और ठौर-ठौर बैलून आदि वैज्ञानिक बातों के ही भर देने से समस्त लेख चातुरी समाप्त हो गयी, नोवेल राइटिंग उपन्यास संबंधी लेख और विज्ञान तथा नीति से क्या सरोकार ...।” हिन्दी प्रदीप में ही प्रकाशित दूसरी आलोचना में बालकृष्ण भट्ट ने लिखा था... “हमलोग जैसा और और बातों में अंग्रेजों की नकल करते आते हैं वैसा ही उपन्यास का लिखना भी उन्हीं के दृष्टांत पर सीखा है। हाल में लाला श्रीनिवासदास जी का परीक्षा गुरु नामक ग्रंथ जिसे हम उपन्यास में गिनते हैं और जिसकी समालोचना से हमारे प्रिय शुभचिंतक सा० सु० नि० के सुयोग्य संपादक महाशय हमसे कुछ अनमने से हो गए हैं अलबत्ता कुछ कुछ अंग्रेजी नाबिल के ढंग पर है परंतु नाबिल प्रौढ़ बुद्धि वालों के लिए लिखे जाते हैं कि निरे स्कूलों के क, ख सीखने वालों के लिए। ग्रंथकर्ता महाशय को अनेक प्रकार के उपदेश वाक्य और विज्ञान चातुरी प्रकट करना था तो गुलदस्ते इखलाक कि या विद्यांकुर के ढंग की कोई पुस्तक बनाते यदि ये सब ठौर-ठौर के अनुवाद निकाल दिए जाए तो (ऑरिजिनल पोर्शन) असली हिस्सा उस पुस्तक का कुछ रही न जायगा।”

यह सत्य है कि यदि ‘परीक्षा गुरु’ में से उद्धरण निकाल दिए जाएं तो भी कथाप्रवाह में कोई कमी नहीं आएगी। कथानक पर श्रीनिवासदास की नैतिकतावादी दृष्टि और सुधारवादी चेतना का दबाव स्पष्ट है। दिल्ली के कल्पित रईस का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने को भले वे अपना उद्देश्य मानें, लेकिन उपन्यास में ‘सावधानी’ और प्रामाणिकता अपनी अस्मिता के प्रति निरंतर सचेत है और उन कारणों से वाकिफ भी, जो उसे पराधीन बनाते हैं - उसके संबंध में वे उदाहरण देकर जगह-जगह पर अपनी बात को स्पष्ट करते हैं।

‘परीक्षागुरु’ में उद्धरण-बहुलता, भाषागत प्रयोगों की परिष्कारहीनता और उपदेशात्मकता कथारस की रोचकता में व्यवधान प्रस्तुत करते हैं लेकिन साथ ही उपन्यास में ऐसे स्थल भी हैं जहाँ कथा का द्रुत प्रवाह, वर्णन की सजीवता, संवादों की संक्षिप्तता इसे परिष्कृत रचना बनाते हैं। सभी प्रकरणों को अलग-अलग शीर्षक दिए गए हैं -- जो भले ही आज के संदर्भ में अनुपयुक्त प्रतीत हों लेकिन इतना तो तय है कि

पाठक की कौतूहल वृत्ति को उत्तेजित एवं तुष्ट करते हैं। हिंदी में औपन्यासिक शिल्प के प्रथम प्रयोग की दृष्टि से, उपन्यास के तत्वों का समवेत संयोजन 'परीक्षा गुरु' में पहली बार हुआ, जिसका अनुकरण आगे के लेखकों ने किया।

'परीक्षागुरु' की रोचकता और प्रवाहमयता को बाधित करने वाले तत्वों में अनावश्यक उद्धरणों और प्रसंगों को देखा जा सकता है। लेखक इन प्रसंगों के प्रति स्वयं सचेत है अतः वह भूमिका में लिखता है- '...अलबत्ता जहाँ कुछ विद्याविषय आ गया है वहाँ विवश होकर कुछ, कुछ शब्द संस्कृत आदि के लेने पड़े हैं परन्तु जिनको ऐसी बातों के समझने में झमेला मालूम हो उनकी सुगमता के लिए ऐसे प्रकरणों पर ऐसा अचिन्ह लगा दिया गया है जिस्से उन प्रकरणों को छोड़कर हरेक मनुष्य सिलसिलेवार वृतान्त पढ़ सकता है।'

श्रीनिवासदास ने उपन्यास लेखन के लिए संस्कृत, फारसी और पाश्चात्य साहित्य से प्रेरणा ग्रहण की। भूमिका में इसका उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं —“इस पुस्तक को रचने में मुझको महाभारतादि संस्कृत, गुलिस्तां वगैरे फ़ारसी, स्पेक्टेटर, लार्ड बेकन, गोल्ड स्मिथ, विलियम कूपर आदि के पुराने लेखों और स्त्रीबोध आदि के वर्तमान रिसालों से बड़ी सहायता मिली है ...”²¹ लाला श्रीनिवासदास देशी माध्यम से पढ़े भारतीय मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसमें एक नयी साहित्यिक और सांस्कृतिक रूचि विकसित होने के संकेत मिलते हैं। उपन्यास के पात्र ब्रजकिशोर के माध्यम से लेखक ने स्वयं को ही अभिव्यक्त करने का प्रयास किया। एक ऐसा पात्र जो न सिर्फ अपनी सबलताएँ जानता है बल्कि दुर्बलताएँ भी, इसलिए उसमें विकास की संभावनाएँ दिखाई पड़ती हैं। ब्रजकिशोर 'परीक्षागुरु' का सहनायक है, विचारवान वकील और कर्तव्यपरायण मित्र के रूप में उसकी अपनी कुछ निश्चित मान्यताएँ हैं। भारतीय तथा पाश्चात्य संस्कृति के व्यावहारिक विश्लेषण के बाद उसने व्यक्ति चरित्र के बारे में एक आदर्श रूप का निर्माण किया है यह वह रूप है जो उपनिवेश में रहते हुए भी दास नहीं है -- श्रीनिवासदास अपनी पुस्तक को 'नई चाल' की पुस्तक बताते हैं —‘यह सच है कि नई चाल की चीज देखने को सबका जी ललचाता है परन्तु पुरानी रीति के मन में समाये रहने और नई नीति को मन लगाकर समझने में थोड़ी मेहनत होने से पहले, पहल पढ़ने वालों का जी कुछ उलझने लगता है और मन उछट जाता है ...’

अपनी पुस्तक को लेकर इस प्रकार की शंकाएँ लेखक के मन में आनी स्वाभाविक ही थीं, क्योंकि शिल्प और कथ्य की यह बानगी इससे पहले के उपन्यासों में नहीं देखी गयी। लाला मदनमोहन उच्चमध्यमवर्गीय रईस के अंतर्विरोधी व्यक्तित्व, प्रदर्शनप्रियता तथा कृत्रिम जीवन शैली यापन करने वाले पात्र के रूप में हमारे सामने आता है। यह उपनिवेशीकृत शहरी धनाढ्य वर्ग का चरित्र है, जिसकी जानकारी उपन्यास के प्रथम प्रकरण 'सौदागर की दुकान' में ही हो जाती है, जहाँ चाटुकारों से घिरा लाला मदनमोहन 'नई चाल' के अंग्रेजी सामानों को खरीदने में प्रवृत्त हो रहा है। दलाली खाने वाले चाटुकार सभासद मिस्टर ब्राइट (सौदागर) की हाँ में हाँ मिला रहे हैं जबकि लाला ब्रजकिशोर अपने मित्र को समझाते हुए कहता है — “खेल तमाशे की चीजों से भोले-भाले आदमियों का जी ललचाता है, वह सौदागर की सब दुकान को अपने घर ले जाना चाहते हैं परन्तु बुद्धिमान अपनी जरूरी चीजों के सिवाय किसी पर दिल नहीं दौड़ाते हैं।” मुनासिब रीति से थोड़े खर्च में सबतरह का सुख मिल सकता है परन्तु इन्तजाम और काम के सिलसिले बिना बड़ी सै बड़ी दौलत भी जरूरी खर्चों को पूरी नहीं हो सकती, जब थोथी बातों में बहुत सा रूपया खर्च हो जाता है तो जरूरी काम के लिये पीछे सै जरूर तकलीफ उठानी पड़ती है।”

उपन्यास के प्रारंभ में ही इस वक्तव्य से बहुत सी बातें स्पष्ट हो जाती हैं पहली तो जीवन यापन के लिए मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति ही पर्याप्त है, उसके अतिरिक्त भौतिक वस्तुओं का संग्रह बुद्धिमत्ता नहीं

है, दूसरे धन को इस ढंग से व्यय किया जाना चाहिए ताकि सभी प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके तथा आपात् स्थिति का सामना भी किया जा सके। मदनमोहन ह्यासोन्मुख यथास्थितिवादी सामंती वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, जिसे अपनी आय के संसाधनों का, खर्च का ठीक-ठीक हिसाब मालूम नहीं। विरासत में मिली संपत्ति और चाटुकार मित्रों ने उसे अंग्रेजों के बाह्य रूप के अनुकरण की ओर प्रेरित किया है। यह औपनिवेशिक भारत का वह वर्ग है जो अपनी सांस्कृतिक विरासत को विस्मृत कर आडंबर और भौतिक संसाधनों की ओर दौड़ रहा है और दिनों-दिन अप्रामाणिक और असावधान मनुष्य बनता गया है। सत्ताधारी वर्ग इसी असावधान भारतीय के बल पर उपनिवेश को बचाए हुए है। ब्रजमोहन इसी संदर्भ में कहता है- 'हाय। इन कारीगरी की निरर्थक चीजों के बदले हिन्दुस्तानी अपनी दौलत वृथा खोये देते हैं।' ईस्ट इंडिया कंपनी का व्यापार करने के उद्देश्य से भारत में आना और धनाढ्य वर्ग के जरिए आय के संसाधनों का दोहन करना ऐसी ही परिस्थितियों में संभव हो पाया, जबकि मदनमोहन जैसे वर्गीय चरित्र अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं को भूलकर यूरोपीय संस्कृति की सतही नकल में प्रवृत्त हुए। इस प्रक्रिया में भारतीय अर्थव्यवस्था को दोहरा घाटा हुआ पहला तो संसाधनों और कच्चे माल का निर्यात, दूसरा तैयार माल की खपत के लिए भारतीय बाजारों का प्रयोग। क्षीण होती अर्थव्यवस्था के कारणों में भारतीयों द्वारा पश्चिम का अंधानुकरण प्रमुख है। ब्रजमोहन कहता है - "जब तक हिन्दुस्थान में और देशों से बढ़कर मनुष्य के लिए वस्त्र और सबतरह के सुख की सामग्री तैयार होती थी, रक्षा के उपाय ठीक-ठाक बन रहे थे, हिन्दुस्थान का वैभव प्रतिदिन बढ़ता जाता था, परंतु जबसै हिन्दुस्थान का एका टूटा और देशों में उन्नति हुई बाफ और बिजली आदि कलों के द्वारा हिन्दुस्थान की अपेक्षा थोड़े खर्च और थोड़ी मेहनत में काम होने लगा, हिन्दुस्थान की घटती के दिन आ गए, जबतक हिन्दुस्थान इन बातों में और देशों के बराबर उन्नति न करेगा यह घाटा भी पूरा न होगा। हिन्दुस्थान की भूमि में ईश्वर की कृपा सै उन्नति करने के लायक सब सामान बहुतायत से मौजूद हैं केवल नदियों के पानी ही सै बहुत तरह की कलै चल सकती हैं परंतु हाथ हिलाये बिना अपने आप ग्रास मुख में नहीं जाता, नई-नई उक्तियों का उपयोग किये बिना काम नहीं चलता, पर इन बातों सै मेरा यह मतलब हरगिज नहीं है कि पुरानी, पुरानी सब बातें बुरी औ नई-नई सब बातें एकदम अच्छी समझ ली जायं।"

'परीक्षागुरू' में स्वदेशी की अवधारणा और स्वावलंबन का भाव ब्रजकिशोर व्यक्त करता है। उसके चरित्र में अंग्रेजी शिक्षा और भारतीय सांस्कृतिक परम्परा का सुमेल है। वह बौद्धिक दृष्टि से प्रगतिशील है, तथा इतिहास और मनोविज्ञान के साथ-साथ पश्चिमी ज्ञान और आविष्कारों की जानकारी भी रखता है। वह जड़ रूढ़ियों का पक्षधर नहीं है लेकिन उसके पैर भारतीय परम्परा में दृढ़ता से जमे हुए हैं, उसे वैश्विक इतिहास की गहरी समझ है जिसका उपयोग वह अपनी बात को पुष्ट करने के लिए जगह-जगह करता दिखायी देता है। वह उदीयमान राष्ट्रीय चेतना को वहन करने वाला पात्र है। जो स्वदेशोन्नति के लिए भारतीय मनुष्य की मानसिकता के प्रतिगामी तत्वों पर विमर्श करता है "जिस देश के बहुत से मनुष्य सावधान और उद्योगी होते हैं, उसकी उन्नति होती जाती है और जिस देश में असावधान और कमकस विशेष होते हैं उसकी अवनति होती जाती है, हिन्दुस्थान में इस समय और देशों की अपेक्षा सच्चे सावधान बहुत कम हैं और जो हैं वे द्रव्य की असंगति सै, अथवा द्रव्यवानों की अज्ञानता सै, अथवा उपयोगी पदार्थों की अप्राप्ति सै, अथवा नई-नई युक्तियों के अनुभव करने की कठिनाइयों सै, निरर्थक से हो रहे हैं।"

निःसंदेह हिंदी का यह पहला उपन्यास सावधानी और प्रामाणिकता पर वृहद् विमर्श करता दिखाई देता है। औपनिवेशिक भारत में स्वदेशी का प्रयोग, कमखर्ची, बचत, अंग्रेजों की अच्छी बातों को व्यवहार में ढालन, उनका अंधानुकरण न करने बल्कि उनके सद्गुणों का अनुकरण भारतीय चरित्र को एक प्रामाणिक

व्यक्ति की पहचान दे सकता है — “हिन्दुस्थानियों को आजकल हर बात में अंग्रेजों की नकल करने का चस्का पड़ रहा है तो वह भोजन वस्त्रादि निरर्थक बातों की नकल करने के बदले उनके सच्चे सद्गुणों का नकल क्यों नहीं करते? देशोपकार, करीगरी और व्यापारादि मैं उनकी सी उन्नति क्यों नहीं करते? अपना स्वभाव स्थिर रखने मैं उनका दृष्टान्त क्यों नहीं लेते? अंग्रेजों की बातचीत मैं किसी की निज की बातों की चर्चा करना अत्यंत दूषित समझा जाता है, किसी की तन्खाह या किसी की आमदनी, किसी का अधिकार या किसी का रोजगार, किसी की सन्तान या किसी के घर का वृत्तान्त पूछने मैं, पूछा होय तो कहने मैं, कहा होय तो सुत्रें मैं वह लोग आनाकानी करतें हैं ... उनके यहां निज की बातों के पूछने की रीति नहीं है, उनको देश सम्बन्धी बातें करने का इतना अभ्यास होता है कि निज के वृत्तान्त पूछने का अवकाश ही नहीं मिलता परन्तु निजकी बातों से अजान रहने के कारण उनकी प्रीति मैं कुछ अन्तर नहीं आता, मनुष्य का दुराचार साबित होने पर वह उसै तत्काल छोड़ देते हैं परन्तु केवल अफ़वाह पर वह कुछ ख्याल नहीं करते बल्कि उसका अपराध साबित न हो जबतक वह उसको अपना बचाव करने के लिये पूरा अवकाश देते हैं और उचित रीति सै उसका पक्ष करते हैं।”

आम आदमी को देशी माध्यम से शिक्षित करने की चिंता औपनिवेशिक भारत बौद्धिक वर्ग का प्रमुख सरोकार था। उन्नीसवीं सदी के भारत को सामाजिक आचार-विचार और धार्मिक विश्वासों के परिप्रेक्ष्य में ह्यासोन्मुख समाज के रूप में देखा जाता था, जिसमें स्वतंत्रता, आस्था एवं तर्कबुद्धि द्वारा रूपान्तरण की आवश्यकता थी। यह रूपान्तरण देशी भाषाओं द्वारा ही संभव था। तत्कालीन भारतीय समाज के पिछड़ेपन पर टिप्पणी करते हुए श्रीनिवासदास लिखते हैं- “हिन्दुस्थानियों का सुधरना केवल दिखावे के लिये है वह अपनी रीति भांति बदलने में सब सुसभ्यता समझते हैं परन्तु असल मैं अपने स्वभाव और विचारों के सुधारने का कुछ उद्योग नहीं करते, बचपन मैं उनकी तबियत का कुछ-कुछ लगाव इस तरफ को मालूम होता तो भी मदरसा छोड़ पीछे नाम को नहीं दिखाई देता ... विद्या और कला की चर्चा कौन फैलाय?”

इस उद्घरण से यह स्पष्ट है कि लेखक और बुद्धिजीवी वर्ग ‘विद्या और कला’ की चर्चा फैलाने, की बात कहकर अपनी बदलती सांस्कृतिक रूचि का परिचय ही दे रहा था।²² अन्य भारतीय भाषाओं में भी हिन्दी की तरह ही उपन्यास साहित्य इस नई सांस्कृतिक रूचि के निर्माण में प्रमुख योगदान दे रहा था। हिंदी के पाठक जिन्होंने तब तक अंग्रेजी उपन्यास के ढंग की कोई रचना नहीं पढ़ी थी, उन्होंने ‘अंग्रेजी तर्ज’ पर लिखे उपन्यास का स्वागत किया इस दृष्टि से मुद्रण कला के योगदान को विस्मृत करना संभव नहीं है। मुद्रण कला के प्रचार-प्रसार ने पाठकों को उपन्यासों से विशेष परिचित कराने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, विशेषकर मध्यवर्ग जिसका उदय यूरोप और भारत में अलग,अलग परिस्थितियों और आवश्यकताओं के कारण हुआ, में उपन्यास विधा अत्यन्त लोकप्रिय हुई। उपन्यास को यूरोपीय पुनर्जागरण की साहित्यिक सन्तान कहा गया। यह पुनर्जागरण चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी का वह विशाल और मूलगत सांस्कृतिक आन्दोलन था, जिसने यूरोपीय समाज की मध्ययुगीन जड़ता, रूढ़ि और अंधविश्वासों को, गाथिक वास्तुविद्या को, संकीर्ण दृष्टिकोण को, ह्यासोन्मुखी अर्थव्यवस्था और सामंतीय अ-राष्ट्रीयता को बहा दिया, और उसकी जगह संदेहवाद, व्यक्तिवाद, मुक्ति और राष्ट्रीयता को प्रतिष्ठित किया धीरे-धीरे पूरे समाज में एक नई स्फूर्ति और सक्रियता दिखाई देने लगी “मुद्रण कला के आविष्कार और प्रसार ने एक ऐसा शिक्षित-अर्धशिक्षित पाठक वर्ग उत्पन्न किया जो श्रेष्ठ साहित्य का रस लेने में असमर्थ होते हुए भी पठन व्यसनी था” भारत में यद्यपि यूरोपीय पुनर्जागरण की सी स्थितियाँ नहीं थीं तो भी इतिहास की विभिन्न शक्तियों के दबाव के कारण आधुनिकता का, एक जीवन पद्धति के रूप में विकास हुआ। इस आधुनिक जीवन पद्धति को वहन करने

वाले मध्यवर्ग ने खाली समय को भरने के लिए उपन्यास विधा को खूब पसन्द किया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नए गद्य के प्रचार के साथ उपन्यास के प्रचार का प्रारंभ मानते हुए लिखा—“यह आधुनिक वैयक्तिकतावादी दृष्टिकोण का परिणाम है। इसमें लेखक अपना एक निश्चित मत प्रकट करता है, और कथानक को इसप्रकार सजाता है कि पाठक अनायास ही उसके उद्देश्य को ग्रहण कर सके और उससे प्रभावित हो सके। लेखकों का इस प्रकार का वैयक्तिक दृष्टिकोण ही नये - उपन्यास की आत्मा है। राल्फ फॉक्स ने इसे आधुनिक सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति माना। उपन्यास ने भारतीय मध्यवर्ग के समक्ष एक ओर पश्चिम का सांस्कृतिक संसार उसके नियंत्रण में ला दिया तो दूसरी ओर अपनी दुर्बलताओं -- सबलताओं को पश्चिम के आइने में रखकर देखने का अवसर दिया। भारतीय अस्मिता की पहचान एक मूलवर्ती चिन्ता के रूप में औपनिवेशिक भारत के बुद्धिजीवी वर्ग को उद्वेलित कर रही थी। पश्चिम का चाहा - अनचाहा बहुत कुछ भारतीय जीवनशैली में घुल-मिल रहा था, ऐसे में मध्यवर्ग के सामने यह प्रश्न था कि ज्ञान-विज्ञान के विस्तृत होते क्षितिजों से अपने लिए क्या चुने, परंपरा से क्या रखे और क्या छोड़ दे ताकि आने वाली पीढ़ी एक सावधान और प्रामाणिक जीवन जी सके। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ‘परीक्षागुरू’ को अंग्रेजी ढंग का पहला मौलिक उपन्यास कहा तो उनके सामने ‘परीक्षागुरू’ का रूपबंध ही सामने था। सिर्फ रूपबंध पर अंग्रेजी नावेल की छाप देखकर उसे उपनिवेशवादी मानसिकता का पक्षधर मान लेना समीचीन नहीं है, क्योंकि हिंदी गद्य लेखन के प्रारंभिक दौर में रूपबंध इन लेखकों के लिए गीली मिट्टी था, जिसे अपने कथ्य के अनुरूप उन्होंने मनचाहा रूपाकार दिया, कोई उपन्यास के अंग्रेजी ढाँचे की ओर गया, कोई आख्यान की भारतीय परंपरा की ओर। महत्वपूर्ण यह था कि श्रीनिवासदास जैसे लेखकों ने भारतीय जीवन के यथार्थ और समाज तथा व्यक्ति के परिष्कार के प्रति अपनी सम्पृक्ति और आस्था दिखाई। ‘परीक्षागुरू’ में भारतीय जीवनशैली की आलोचना ब्रजकिशोर द्वारा इसलिए नहीं कराई गई कि लेखक औपनिवेशिक व्यवस्था से संतुष्ट है, या उसका पक्षधर है, बल्कि ब्रिटिश सत्ता और यूरोपीय जीवनशैली के आइने में भारतीय जन की दुर्बलताओं को देखने-दिखाने के लिए उसने ऐसे रूपबंध तथा कथानक का चुनाव किया है। उपदेशात्मक शैली में उद्धरण देता हुआ वह सावधानी और प्रामाणिकता से परिपूर्ण भारतीय मनुष्य का आदर्श सामने रखता है। यह लेखक की उदारवादी मानसिकता को भी अभिव्यक्त करता है। श्रीनिवासदास ने कथाशिल्प में नवीन प्रयोग किया, तो इसका कारण अंग्रेजी उपन्यासों से उनकी सुपरिचिति और हिंदी में उपन्यासों की किसी ठोस पृष्ठभूमि तथा पथनिर्देश संबंधी किसी संकेत चिन्ह का अभाव था। प्रेमचन्द को उपन्यास लेखन की ठोस जमीन देने वाले लेखकों में लाला श्रीनिवासदास का नाम सम्मिलित है। भले ही उनमें बंकिमचंद्र जैसी प्रतिभा न हो, फिर भी उन्होंने अपनी सीमाओं में अपने समय को पढ़ने और अभिव्यक्त करने का प्रामाणिक प्रयास किया। प्रेमचंद ने उनकी विरासत से सृजनात्मक ऊर्जा अवश्य ग्रहण की और जो लिखा वह अपने समय के भारतीय समाज का यथार्थ ही था। ‘परीक्षा गुरु’ “अपनी यथार्थगत गहराई के अभाव तथा कलात्मक शिथिलता के बावजूद एक सही शुरुआत के रूप में महत्वपूर्ण माना जाएगा।”²³

* * *

पाद टिप्पणी

1. 'परीक्षा गुरु' का प्रथम संस्करण श्री उदयशंकर शास्त्री (हिन्दी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा) के पास मिला। - हिन्दी उपन्यास कोश, डॉ.गोपाल राय, पृष्ठ.37 प्रथम भाग, ग्रंथ निकेतन, पटना।
2. हिन्दी प्रदीप जिल्द 6, सं.4 (दिसंबर 1882) पृ.12-13 में प्रकाशित 'परीक्षा गुरु' की आलोचना के कुछ महत्त्वपूर्ण अंशों को डॉ.गोपाल राय ने हिन्दी उपन्यास कोश - पृष्ठ 37-38 (भाग-1) में उद्धृत किया है जो इस प्रकार है -

“प्रथम तो हमें हर्ष इस बात का है कि महाजनों में एक ऐसा चमत्कारी प्रतिभासंपन्न पुरुष हो निकला। इस उपन्यास की भाषा और 'प्लॉट' बंदिश दोनों बहुत कुछ सराहने के योग्य है ग्रंथकर्ता ने अंगरेज़ी, फारसी, संस्कृत और विज्ञान में अपनी लियाकत जहाँ तक हो सका भरपूर इसमें प्रकट किया है पर न जानिये क्यों हमें इस लेख में एक प्रकार का रुखापन जंचता है पदों का वह लालित्य और माधुर्य नहीं आया जैसा बाबू हरिश्चंद्र के लेख में होता है नाटक वा उपन्यास के प्रधान अंग श्रृंगार, हास्य कभी कभी वीर और करुण होते हैं सो उन सबों की इसमें कहीं झलक भी नहीं है क्या निरा विदुर प्रजागर और ठौर ठौर बैलून आदि वैज्ञानिक बातों ही के भर देने से समस्त चातुरी समाप्त हो हो गई, नोवेल राईटिंग उपन्यास संबंधी लेख और विज्ञान तथा नीति से क्या सरोकार बहुत लोग नोवेल जैसा मिस्टसीज आदि किताबें हैं उनका पढ़ना बुरा समझते हैं और उपन्यासों को 'इम्मारल' असट उपदेशक कहकर बदनाम कर रखा है पर सच पूछो तो बुराइयों का परिणाम दिखाकर अपनी लेखनशक्ति के द्वारा पढ़ने वालों का जो आकर्षण करते जाना जैसा संस्कृत में 'कादंबरी' में है अन्त को एक अपूर्व उपदेश निकालना उपन्यास ही में है सो बातें इसमें नहीं पाई जातीं अस्तु फिर भी जहाँ कोई पेड़ नहीं वहाँ रेड़ ही रुख हिन्दी में अब तक कोई उत्तम उपन्यास नहीं छपे इसलिए यह अवश्य उत्तमोत्तम है क्योंकि कवि की उक्ति है “सतुतत्रविशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यतिकृत्यवर्त्मयः” दूसरी बात लाला श्रीनिवासदास की यह अति प्रशंसनीय है कि सा.सु.निधि के ग्राहकों में इसे मुफ्त बाँटा जिस्से कितने लोगों को उपन्यास पढ़ने का शौक हो जायेगा और देखा-देखी कदाचित् और लोग भी नोवेल लिखने का मन करें तो क्या अचरज है अन्त को श्रीनिवासदास को अनेक धन्यवादपूर्वक हम इस ग्रंथ को स्वीकार करते हैं।”
3. 'परीक्षा गुरु' के द्वितीय संस्करण की एक प्रति आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी (नागरी प्रचारिणी सभा) में विद्यमान है।
4. प्रा.स्था. पटना कॉलेज पुस्तकालय, पटना (भूल से मुखपृष्ठ पर इसे दूसरा संस्करण कहा गया है। - हिन्दी उपन्यास कोश - डॉ.गोपाल राय, भाग-एक, पृष्ठ सं. 39-40
5. राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य : कुछ प्रसंग कुछ प्रवृत्तियाँ - वीरभारत तलवार का लेख शीर्षक : देशोन्नति का अर्थ : हिन्दी उपन्यास का आरंभ
6. एडवर्ड शिल्स - दि इंटेलेक्चुअल बिटविन ट्रेडिशन एंड माइनारिटी : दि इंडियन सिचुएशन, हेग, 1961
7. परीक्षा गुरु - पृष्ठ.145
8. राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य : कुछ प्रसंग कुछ प्रवृत्तियाँ - वीरभारत तलवार, पृष्ठ 5
9. Macaulay's minutes of 1835

10. भारत में अंगरेज़ी राज (भाग-3) - सुंदरलाल, इसके साथ देखिए -
 “दि क्राइसिस ऑफ़ इंडियन सिविलाइज़ेशन इन द एटीथ एंड नाइंटीथ सेंचुरीज़, लंदन 1938 साथ ही देखिए चार्ज बीचर्स - इंटेलेक्चुअल एंड कल्चरल कैरेक्टरस्टिक्स ऑफ़ इंडिया इन ए चेंजिंग इरा 1740-1850, जर्नल ऑफ़ एशियन स्टडीज़ नवंबर 1965, वे लिखते हैं - 1740-1800 तक भी भारत की संस्कृति उस समाज की सजीव अभिव्यक्ति थी जो अपने भाग्य का निर्माता खुद दिखाई देता है इस समाज ने अपने विभिन्न स्तरों पर, अभिजात स्तर पर भी और जन स्तर पर भी, विविधता और गुणवत्ता दोनों दृष्टियों से प्रचुर कला, संगीत, साहित्य और विद्वत्ता की सृष्टि की।
11. सेलेक्शंस फ्रॉम ऐजुकेशनल रिकार्ड्स - पार्ट-वन, 1781, एच शार्प, 1839 कलकत्ता 1920 पृ.116
12. दि एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल - ओ.पी.केजरीवाल, पृ.23
13. प्रास्पेरो एंड कैलिबान - दि साइकोलॉजी ऑफ़ कोलोनाइज़ेशन - ओ मेनोनी, एन अर्बोर, 1990, पृष्ठ 39-40
14. आलोचना - अप्रैल-जून 2002, लेख - हिन्दी के आरंभिक उपन्यासों में स्त्री-चेतना, ले. रामनिरंजन परिमलेंदु
15. हिन्दी शब्दसागर : सं. श्यामसुंदर दास : प्रस्तावना : हिन्दी साहित्य का विकास, पृ.221, कॉलम 1, रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी 1929 ई. और हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचंद्र शुक्ल, पृ.304-305, सं. 2041 विक्रमी
16. भाग्यवती - पृ.79, ऋषभचरण जैन एवं संतति प्रकाशन, दिल्ली, 1988
17. वही, पृ.12
18. आलोचना - अप्रैल-जून 2002, पृ.103
19. भारतेंदु मण्डल - ब्रजरत्नदास, पृ.47
20. सामाजिक यथार्थ चेतना का प्रथम उपन्यास : ‘परीक्षा गुरु’ - रामदरश मिश्र, पृ.7
21. परीक्षा गुरु - श्री निवासदास, निवेदन, पृ.3
22. आधुनिक साहित्य और इतिहास बोध - नित्यानंद तिवारी, पृ.37
23. सामाजिक यथार्थ चेतना का प्रथम उपन्यास : ‘परीक्षा गुरु’ भूमिका, सं. रामदरश मिश्र

अध्याय-4 लाला श्रीनिवासदास के नाटक

1. 'प्रह्लाद चरित' :-

'प्रह्लाद चरित' शीर्षक नाटक लाला श्रीनिवासदास की पहली नाट्य रचना है, जिसका प्रकाशन श्रीनिवासदास की मृत्यु के बाद सन् 1895 ई. में हुआ।¹ इसका रचनाकाल सन् 1874² ई. है। पहली कृति होने के कारण इसमें अपरिपक्वता के दर्शन होते हैं। स्वयं श्रीनिवासदास इसे अत्यंत साधारण रचना मानते थे। संभवतः इसीलिए उन्होंने इसके प्रकाशन में संकोच बरता।

प्रह्लाद चरित नाटक में 11 दृश्य हैं। नाटक का प्रारंभ बैकुण्ठ दृश्य से होता है। द्वारपाल जय-विजय एवं सनकादि ऋषियों को रोकने के कारण शापग्रस्त होते हैं। इस नाटक में विष्णु भक्त प्रह्लाद का पूरा चरित्र प्रकाशित किया गया। कथानक की यात्रा प्रह्लाद की हरिभक्ति, हरि के प्रति आसक्ति, पिता हिरण्यकश्यपु द्वारा बार-बार मार डालने के प्रयत्न और विफलता और अंत में विष्णु का नृसिंह अवतार ग्रहण कर हिरण्यकश्यपु का वध करना आदि तक विस्तार पाती है।

'प्रह्लाद चरित' के पौराणिक कथानक का आधार श्रीमद्भागवत, मत्स्यपुराण आदि अनेक ग्रंथ हैं।³ जिस समय लाला श्रीनिवासदास ने नाट्य रचना प्रारंभ की थी उस समय पौराणिक चरित्रों को केंद्र बनाकर अनेक नाटक लिखे जा रहे थे। सिर्फ भारतेंदु युग में ही प्रह्लाद के चरित्र को आधार बनाकर तीन नाटक लिखे गए --

1. प्रह्लाद नाटक (1874 ई0)
नाटककार - मोहनलाल विष्णु पंड्या
2. प्रह्लाद चरित (1885 ई0)
नाटककार - लाला श्रीनिवासदास
3. प्रह्लाद चरित्र - (समय अज्ञात)
नाटककार - जगन्नाथ शरण

भारतेंदु युग में रामायण और महाभारत के साथ-साथ सभी पुराणों की प्रमुख एवं लोकप्रिय कथाओं पर नाटक लिखे गए। ऐसा नहीं कि इस युग के नाटकारों की विशेष रूचि पुराणों की कथाओं में थी, बल्कि ब्रिटिश राज के प्राथमिक दौर में औपनिवेशिक भारत का बुद्धिजीवी नैतिकता और आदर्शों के उन तमाम मूल्यों की स्थापना का प्रयास कर रहा था, जिसके अभाव में भारत सुख-समृद्धि विहीन होता जा रहा था। पुराणों को कथानक के रूप में ग्रहण करने के पीछे नैतिकतावादी-सुधारवादी चेतना ही कार्य कर रही थी। स्वयं भारतेंदु ने 'सत्य हरिश्चंद्र' नाटक लिख कर त्याग, सत्यता और कर्तव्यबोध का सामाजिक आदर्श सामने रखा। भारतेंदु अपने समकालीन लेखकों के लिए प्रेरणा-स्रोत थे उनके आसपास "लेखकों और कवियों का एक खासा मंडल चारों ओर तैयार हो गया था।"⁴ वैसे रास नाटकों की परंपरा देशी भाषा, पश्चिमी राजस्थानी में रास और रासो के रूप में चली आ रही थी, जिसका प्रभाव भारतेंदु और उनके समकालीन लेखकों ने ग्रहण किया। रास नाटक पूरी तरह छंदोबद्ध और गेय होते थे एवं गद्य अंश न के बराबर, या कह लें, लगभग उपेक्षित रहता था। नाटक के सभी पात्र शुरु से अंत तक मंच पर विद्यमान रहते थे और अंत में नाटककार द्वारा नाट्य-लेखन का प्रयोजन बताया जाता था।

संस्कृत और जैन साहित्य में प्रचुर मात्रा में रास नाटक लिखे गए। हिन्दी में रास-परंपरा में 'रामायण हनुमन्नाटक' की रचना (संवत् 1667 वि०) प्राणचंद चौहान द्वारा की गई। इसके बाद 'हनुमन्नाटक' (हृदयराम; सं० 1680 वि०) और 'समयसार' (बनारसीदास; सं० 1693 वि०) में भी रासनाटकों की जन-प्रिय शैली अपनाई गई। इन नाटकों की कथावस्तु प्रायः पौराणिक ग्रंथों एवं धर्मग्रंथों से ली गयी। इन रास-नाटकों में प्रह्लाद-लीला और नृसिंह लीला अत्यंत लोकप्रिय थी। फलस्वरूप भारतेंदु युग में प्रह्लाद के चरित्र को आधार बनाकर तीन नाटक लिखे गए।

श्रीनिवासदास कृत 'प्रह्लाद चरित' का प्रकाशन सर्वप्रथम खेमराज श्रीकृष्णदास वेंकटेश्वर छापाखाना, बम्बई से हुआ। इस नाटक के कुल 93 पृष्ठ हैं, जिसमें आठ पुरुष-पात्र, एक स्त्रीपात्र द्वारा 11 दृश्य अभिनीत करने का प्रावधान है। 'भारतेंदु मंडल' के लेखक ब्रजरत्नदास ने 'प्रह्लाद चरित' नाटक का परिचय इस प्रकार दिया है - "'प्रह्लाद चरित' लालाजी का प्रथम नाटक है, जिसमें ग्यारह दृश्य हैं। प्रथम में सनकादि चारों भाई बैकुंठ के द्वारपाल जय-विजय को उन्हें रोकने के कारण शाप देते हैं। दूसरे में प्रह्लाद हरिभजन करते हुए आते हैं और पाठशाला में पढ़ने के लिए बिठाए जाते हैं। तीसरे में पढ़ना अस्वीकार कर हरि-नाम जप ही ध्येय बतलाने पर गुरुजी उन्हें हिरण्यकशिपु के दरबार में ले जाते हैं, जो चौथे दृश्य में उन्हें समझाता है। प्रह्लाद के न मानने पर पाँचवे से नवें दृश्य तक इन्हें घातकों द्वारा, हाथी के पैर के नीचे, विष देकर, चिता पर तथा समुद्र में फेंक कर मारने का असफल प्रयास किया जाता है। दसवें में हिरण्यकशिपु फिर पुत्र को बहुत कुछ समझाता है, पर न मानने पर ग्यारहवें में स्वयं मारने का प्रयत्न करता है पर नृसिंह जी प्रगट होकर उसे ही मार डालते हैं।

प्रह्लाद जी का पौराणिक उपाख्यान प्रसिद्ध है और नाटककार ने जो कुछ इसमें यत्र-तत्र परिवर्तन किया है, वह कथावस्तु का उन्नायक नहीं हुआ है। हरि-नाम जप के माहात्म्य दिखलाने का अत्यंत शिथिल प्रयास है और कथोपकथन बहुत हैं। चरित्र-चित्रण कुछ भी नहीं हो सका है और इसकी भाषा में भी कुछ सबलता नहीं है। हर एक दृष्टि से यह नाटक असफल ही रह गया और यही कारण है कि स्वयं नाटककार इसे अपनी रचना कहने में संकोच करते थे।

"इस पौराणिक नाटक में प्रह्लाद और हिरण्यकश्यप के आख्यान द्वारा भक्त की महिमा दिखाई गई है। इसकी कथा प्रसिद्ध विष्णुभक्त प्रह्लाद और नरसिंहावतार द्वारा हिरण्यकश्यप के वध पर आधारित है। इस नाटक का प्रमुख पात्र-प्रह्लाद एक उपदेशक गुरु प्रतीत होता है। वह अपने पाठशाला गुरु को भी उपदेश देता है। इसमें होली, प्रह्लाद की बुआ के रूप में प्रस्तुत नहीं की गयी है। हास्य की योजना प्रह्लाद के साथियों के माध्यम से पाठशाला में की गई है। पुराणों के प्रति नाटककार का मोह इस नाटक में अलौकिक घटनाओं को जोड़ने के लिए प्रेरित करता रहा है।"⁵

'प्रह्लादचरित' में अभिनेयता न के बराबर है। वस्तुतः भारतेंदु युग में लिखे गए 'सत्य हरिश्चंद्र' और 'चंद्रावली' को छोड़ दें तो अन्य सभी नाटकों में अभिनेयता का पक्ष अत्यंत दुर्बल है। ऐसे नाटक अधिक हैं, जिनमें न तो वस्तुगठन का सौंदर्य है न भाषा-भाषा और चरित्र की परिपक्वता। 'प्रह्लाद चरित' में भी नाटककार की मौलिक प्रतिभा का परिचय नहीं मिलता। फिर भी इस नाटक का अन्य पौराणिक नाटकों के साथ महत्त्व इस बात में है, कि इन्होंने हिन्दी साहित्य के आधुनिक दौर और खड़ी बोली गद्य को समृद्ध किया। परवर्ती नाटककारों ने रंगमंचीयता तथा अभिनेयता की ओर ध्यान इसीलिए दिया कि इस दौर के नाटकों की कमियों से वे वाकिफ़ थे। प्रह्लाद चरित का शिथिल कथानक, आवश्यकता से अधिक लंबी संवाद-योजना, चरित्र-चित्रण की अपर्याप्तता ने इसे अति साधारण नाटकों

की श्रेणी में स्थापित किया। जिसके बारे में आचार्य शुक्ल ने कहा -“प्रह्लादचरित दृश्यों का एक बड़ा नाटक है, पर उसके संवाद आदि रोचक नहीं, भाषा भी अच्छी नहीं है।”⁶

इसके बावजूद श्रीनिवासदास के इस नाटक में समसामयिक यथार्थ की अभिव्यक्ति हुई है। आलोचकों ने इसे पौराणिक रास परंपरा का नाटक माना है। इसका उद्देश्य जनता का मनोरंजन मात्र करना नहीं है- बल्कि जनता की आस्था उसकी आत्मशक्ति में जगाना है। प्रह्लाद के रूप में आत्मबल और ईश्वरीय आस्था को श्रीनिवासदास ने इस नाटक में प्रस्तुत किया है। हिरण्यकश्यप युगीन नास्तिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है। वह कहता है--“ दुष्ट, मैं तेरा उपदेश सुनने नहीं आया, तुझको मारने आया हूँ, तेरे सहायक हरि को मारने आया हूँ, बता वह सर्वव्यापी है तो यहां कहाँ है? इस खंभ में है? इस खड्ग में है? मुझमें है? तुझमें है?”⁷

तिरानवे पृष्ठ के इस नाटक में श्रीनिवासदास ने युग के धार्मिक संघर्षों की ओर बढ़ती हुई नास्तिकता को लक्षित किया है। संवाद चलताऊ होने के बावजूद भक्तिपरक गीतों में स्वाभाविकता लक्षित होती है। श्रीनिवासदास ग्रंथावली के संपादक श्रीकृष्णलाल ने ‘प्रह्लाद चरित’ के विषय में कहा है - “ ‘प्रह्लाद चरित्र’ इनकी प्रथम रचना है जो अत्यंत साधारण और कुछ अर्थों में असफल भी कही जा सकती है। संभवतः इसी कारण लाला जी इसे अपनी रचना कहने में संकोच करते थे और इसका प्रकाशन इनके जीवन-काल में नहीं हुआ मरने पर सं० 1952 में हुआ।”⁸

2. ‘तप्ता संवरण’ :-

यह लाला श्रीनिवासदास की दूसरी रचना है जिसका प्रकाशन पहली बार हरिश्चंद्र मैगज़ीन में क्रमशः 14 फरवरी तथा 15 मार्च 1874 ई० में हुआ। बाद में चलकर 1883 ई० में पुस्तक रूप में खड्गविलास प्रेस से इसका प्रकाशन हुआ।

यह नाटक प्राचीन पौराणिक प्रेमकथा पर आधारित है। कथानक का सूत्र संवरण और तप्ता के प्रेम को लेकर बुना गया है। श्रीनिवासदास ने इस नाटक की भूमिका में लिखा है- “इसमें कुछ लोकोपकारी विषय नहीं पाया जाता। यह केवल श्रृंगारविषयक एक पुरानी चाल का नाटक है। परन्तु सज्जनों ने इसका यहाँ तक आदर किया कि गुजराती भाषा में इसका अनुवाद होकर मुम्बई के ‘बुद्धिवर्धक’ नामक मासिक पत्र में प्रकाशित हुआ।” श्रीनिवासदास के मन में साहित्य की लोकोन्मुखता रचना के उद्देश्य के रूप में थी। लेकिन परंपरा से प्राप्त संस्कृत कथानकों का प्रभाव भी उनपर पर्याप्त था, इसलिए वे पुरानी चाल का नाटक रचने से भी अपने को रोक नहीं पाए। ‘तप्तासंवरण’ पर संस्कृत के प्राचीन प्रेम कथामूलक नाटकों की शैली का प्रभाव पड़ा है। इसके कथानक पर आद्योपांत कालिदास के ‘अभिज्ञान शाकुंतलम्’ का प्रभाव दिखाई देता है, न केवल कथासंयोजन बल्कि शैली पर भी। जहाँ ‘अभिज्ञान शाकुन्तलम्’ में दुर्वासा ऋषि शकुन्तला को शाप देते हैं, वहीं ‘तप्ता संवरण’ में गौतम मुनि, नायक अर्थात् संवरण को शाप देते हैं, क्योंकि तप्ता के प्रति प्रेमासक्त होने के कारण वह गौतम मुनि का अभिवादन एवं आदर-सत्कार नहीं करता। क्रोधावेश में मुनि इसे अपनी अवहेलना मानते हैं और कहते हैं कि जिसके ध्यान में तू इतना मग्न है, वह तुझे विस्मृत कर देगा।” संवरण शाप सुनकर अत्यंत विचलित हो जाता है, क्योंकि तप्ता से वह इतना प्रेम करता है, कि उससे विछोह की कल्पना भी उसे असह्य है। तप्ता द्वारा उसे विस्मृत कर दिया जाना, अर्थात् संवरण के अस्तित्व पर प्रश्नचिन्ह। मुनि का अभिवादन न कर पाने के लिए वह स्वयं को दोषी ठहराता हुआ तरह-तरह से मुनि से क्षमायाचना करता है। अंततः

मुनि का हृदय पिघल जाता है, उसकी ग्लानि पर दयार्द्र होकर वे शाप का परिहार भी बताते हैं। गौतम मुनि कहते हैं कि तप्ता से अंगस्पर्श होते ही उसे तुम्हारा स्मरण हो जाएगा।

प्रेम की गहनता और प्रिय के विछोह की कल्पना से व्याकुल संवरण का चरित्र परंपरागत श्रृंगारिक नायक का प्रतिनिधित्व करता है। गौतम के शाप और उसके परिहार के प्रसंग थोड़े से हेर-फेर के साथ 'अभिज्ञान शाकुन्तलम' के दुर्वासा के शाप और शाप-शमनवाले प्रसंगों से मिलते जुलते हैं। भारतेन्दु ने 'नाटक अथवा दृश्य काव्य' नामक पुस्तिका में हिन्दी के आरंभिक नाटकों का जो क्रम निर्धारित किया है, उसमें उन्होंने पहला स्थान 'नहुष' को दूसरा लक्ष्मणसिंह के 'शकुन्तला' को, तीसरा 'विद्यासुन्दर' को और चौथा 'तप्ता संवरण' को दिया है।

'तप्ता संवरण' को हिन्दी का पहला मौलिक नाटक होने का श्रेय प्राप्त है। इसमें 'अभिज्ञान शाकुन्तलम' की शैली पर पत्र लेखन (शकुन्तला के समान तप्ता भी विरह में पत्र लिखती है), ऋषिशाप (दुर्वासा के समान गौतम भी संवरण को शाप दे देते हैं), और शाप निवारण (मुद्रिका दर्शन के समान शापनिवारण विधि अंगस्पर्श बताई गई है)। चूंकि 'विद्यासुन्दर' और 'शकुन्तला' अनुवाद हैं और नहुष का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार 'तप्ता संवरण' हिन्दी का पहला मौलिक नाटक है।"

'तप्ता संवरण' नाटक के कथानक का मूलाधार महाभारत का आदिपर्व है। श्रीनिवासदास के पहले भी संस्कृत और गुजराती भाषा में इसी कथानक को आधार बनाकर नाटक की रचना की जा चुकी थी। केरल के नाटककार कुलशेखर ने संस्कृत में 'तपती संवरण' तथा गुजराती नाटककार प्रेमानंद ने भी तप्ती और संवरण का प्रेम-कथा को आधार बनाया। तीनों ही नाटककारों ने कथानक के केंद्र में कुरु के पिता संवरण और माता तपती के अखण्ड प्रेम को रखा। लेकिन श्रीनिवासदास ने संस्कृत 'तपती' को 'तप्ता' कर दिया है। कुलशेखर ने इस नाटक में छह अंकों की योजना की थी, जबकि श्रीनिवासदास ने इसे पाँच अंकों में ही समेट दिया है।

'तप्ता संवरण' नाटक दो भागों में 'हरिश्चंद्र मैगज़ीन' के सन् 1874 के 15 फरवरी और 15 मार्च अंकों में छपा था। 'हरिश्चंद्र मैगज़ीन' के मुखपृष्ठ (जो अंग्रेज़ी में छपता था) पर कंटेंट्स (Contents) के अंतर्गत आठवें स्थान पर 'Tapta Sambarana' (तप्ता संवरण) लिखा गया है। 'तप्ता संवरण' का प्रारंभ ब्राह्मण से होता है -

“ब्राह्मण सब विध सब की कामना पूरण करैं दयाल
 यथा सुदामा विप्र कूं छिन मैं कियो निहाल

सूत्रधार (नट से) कहो आज कौन-सा नाटक करैं।।

नट आज तो श्रीनिवासदास कृत 'तप्ता संवरण' का नाटक दिखाओ और ये भी बताओ कि नाटक करने से लाभ क्या होता है।।

सूत्रधार क्या तुम नहीं जानते प्रथम तो मन बहलाने के लिए ये बहुत उत्तम पदार्थ है दूसरे नाटककार समय पर अपना रूप, अपनी वाणी और अपना स्वभाव बदल सक्ता है इसलिये राजा लोगों को इसका अभ्यास करना अत्यंत आवश्यक है।”

नाटक के प्रथम अंक में तप्ता सखियों के साथ लता मंडप में बैठी है। यहीं से उसके प्रेम में पड़ने की पूर्वसूचना दर्शकों को मिल जाती है जब वह अपनी सखियों चंद्रकला, चंपा, छबीली, मोहनी से बात करती हुई अपने हृदय की अस्थिरता का संकेत करती है। इसी अंक में संवरण का आगमन भी हो जाता

है - वह वृक्ष की ओट से तप्ता को निहारता है - यह प्रथम दृष्टि में ही प्रेम का प्रसंग है - इसलिए पाठकों की उत्सुकता सिर्फ रोमैंटिक पहलू पर ही संकेंद्रित हो जाती है।

नाटक के द्वितीय अंक में संवरण और तप्ता का पारस्परिक वार्तालाप है जो पाठक को बड़ा सतही और कृत्रिम लगता है। उदाहरणार्थ “संवरण - प्यारी तुम्हारे मुखारविंद को देखकर मेरा मन ऐसा उमगता है जैसे पूर्ण चंद्रमा को देख समुद्र मैंने अपना मन तुमारी मुंह दिखावनी न्यौछावर कर दिया है अब उचित जानों सो करो।।

तप्ता महाराज मैं भी अपने मन सुमन की माला आप के गले मैं डाल चुकी हूँ।।”

इसी अंक में गौतम ऋषि का आना और संवरण को शाप देना भी वर्णित है। ये प्रसंग भी यथार्थ से कहीं से भी संबद्ध नहीं हैं। गौतम ऋषि का क्षण में ही रुष्ट और तुष्ट हो जाना वर्णित है, जो अत्यधिक नाटकीय है।

‘तप्ता संवरण’ का तृतीय अंक ‘रंगभूमि’ की पृष्ठभूमि में है जिसमें तप्ता का संवरण से वियोग वर्णित है।

तप्ता । “सखी ये वोही वन है हाय अब तो कैई दिन बीत गये पर प्यारे नैं सुध न लीनी रात कूं नींद भी तो नहीं आती जो स्वप्न मैं ही आंखें ठंडी करूं।।”

तप्ता की सखियां उसका मन बहलाने का तरह-तरह से प्रयत्न करती हैं। इसी अंक में संवरण से तप्ता मिलती है लेकिन वह गौतम ऋषि के शाप के कारण संवरण को नहीं पहचानती। संवरण के बहुत प्रयास करने पर भी वह उसे स्पर्श नहीं करती तब संवरण कहता है “हाधिक् हाधिक् बड़ा अनर्थ हुवा मैंने मणि के धोके अंगार उठा लिया मैं तो कोमल शरीर देख कर मोहित हो गया था इसका मन तो वज्र सै भी कठोर निकला पर बस किस का मन पापी तो अब भी नहीं मान्ता।।

तप्ता । “तुम सै वृथा कौन शिर खाली करै।।”

चतुर्थ अंक में संवरण अपने मित्र कमलाकर के साथ मंच पर आता है। वह मित्र से अपनी विरहावस्था का सब हाल कहता है।

“कमलाकर मित्र ये कहां की कथा ले बैठे उठो मन बहलाओ। तुम होंगे तो हजार सुंदरी आजायंगी।

संवरण भाई मन तो मेरे बस मैं नहीं है मैं क्या करूं अब तो वही सुंदरी दरशन दै तो प्राण बचै हैं प्यारी तेरी कठोरता पर अपने प्राण नोछावर करने मैं कभी विलंब न करता पर यही शोच है कि मेरे कारण सै कुछ तुमकूं दुख न होय। (मूर्छा खाकर गिरता है)

कमलाकर मित्र चैतन्य हो चेतन हो हा बड़ा दुख है!!”

तभी वहाँ पर तप्ता अपनी सखी चंद्रकला के साथ जोगन के वेश में आती है। वह भी विरह वेदना के ताप में जल रही है। जब वह संवरण को मूर्च्छित देख उसे स्पर्श करती है, तभी उसकी स्मृति लौट आती है और वह संवरण को पहचान लेती है -“हाय इस दुख का कारण मैं ही हूँ। (संवरण का शिर अपनी जंघा पै धरके) हे प्रीतम तुम्हारे ऊपर मैं नोछावर करती हूँ हे सज्जन तुमारी तो प्रीती मैं संदेह नहीं ओर मेरे विरोध मैं संदेह नहीं हाय मैंने अपने गले का अलौकिक हार सर्प जानकर फेंक दिया मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई हाय यह घाव मेरे मन का कैसे मिटेगा।।” बाद में संवरण चैतन्य होता है।।

पंचम अंक के प्रारंभ में संवरण गुरु वसिष्ठ सूर्य देव का ध्यान करते हैं और सूर्यदेव साक्षात् प्रकट हो जाते हैं। वे वसिष्ठ से प्रसन्न होकर वरदान माँगने को कहते हैं। तप्ता अपनी सखियों समेत आकर सूर्य के चरणों में गिरती है।

“सूर्य (तप्ता के शिर पर हाथ फेर कर) बेटा प्रसन्न हो तुम्हारी इच्छा पूर्ण हुई अब जन्मभर प्रीतिपूर्वक अपने पति की सेवा करना स्त्रियों का ये ही परमधर्म है”

इस तरह ‘तप्ता संवरण’ का मिलन पूर्ण होता है।

इस नाटक के संवाद अत्यंत आलंकारिक शैली में लिखे गए हैं और उनमें प्राचीन चमत्कारिक संस्कृत नाटकों की शैली का प्रभाव दिखाई देता है। हिन्दी के प्रारंभिक नाटकों की दृष्टि से इसका ऐतिहासिक महत्त्व है किंतु नाटककला की दृष्टि से इसका कुछ वैशिष्ट्य नहीं है।

‘भारतेंदु मंडल’ के लेखक ब्रजरत्नदास ने तप्तासंवरण के बारे में पुस्तक में लिखा है - “यह नाटक हरिश्चंद्र मैगजीन के 14 फरवरी तथा 15 मार्च सन् 1874 ई की दो संख्याओं में क्रमशः छपा है। नौ वर्ष बाद यह प्रथम बार पुस्तकाकार में प्रकाशित हुआ था। नांदी तथा प्रस्तावना के अनंतर प्रथम अंक में तप्ता तथा संवरण का साक्षात् मात्र होता है। दूसरे में कुछ वार्तालाप होता है और उसके बाद जब गौतम ऋषि आते हैं तब संवरण तप्ता के ध्यान में मग्न रहने के कारण उनका समादर नहीं करता। इस पर ऋषि जी उसे शाप देते हैं कि जिसका ध्यान कर रहे हो वही तुम्हें भूल जाएगी। यह शाप सुन कर संवरण प्रार्थना करता है और तब अंग-स्पर्श होने पर शाप निवृत्ति होना बतला कर ऋषिजी चले जाते हैं। तीसरे में तप्ता सखियों के साथ आती है, विरह में पत्र लिखती है, जोगिन बनती है पर संवरण के आने पर उसे नहीं पहिचानती। चौथे में मित्र सहित संवरण आता है, विरह के कारण मूर्छित होता है, तप्ता आकर सम-दुखी समझ उसके मुख पर से वस्त्र हटाती है और इस प्रकार अंग-स्पर्श हो जाने से उसे पहिचान लेती है। पाँचवें में वशिष्ट की कृपा से सूर्य भगवान आकर अपनी पुत्री तप्ता का संवरण से विवाह कर देते हैं।

कथावस्तु शाप तथा पत्रलेखन द्वारा कुछ बढ़ाया गया है पर तब भी प्रायः नहीं के समान है। चरित्र-चित्रण तथा कथोपकथन भी अच्छा नहीं है और भाषा भी वैसी ही है। यह अवश्य है कि प्रह्लाद चरित से यह अच्छा बन पड़ा है।”

श्रीनिवासदास की अत्यंत प्रौढ़ रचना ‘परीक्षा गुरु’ को देखकर कहीं भी ऐसा नहीं लगता कि ‘परीक्षा गुरु’ (1882) से मात्र आठ वर्ष पूर्व ‘तप्तासंवरण’ (1874) जैसे कमजोर नाटक की रचना भी उन्होंने ही की है। ‘तप्तासंवरण’ में सतही रोमैंटिक भाव, विराम चिन्हों का अभाव और कहीं-कहीं संवादों में लक्षणा का प्रयोग करने वाला लेखक ‘परीक्षा गुरु’ की रचना भी कर सकता है इसे देखकर आश्चर्य होता है। प्राचीन पौराणिक प्रेमकथा को लेकर लिखा गया यह नाटक सिर्फ ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। संभवतः श्रीनिवासदास ने भाषा और अंग्रेज़ी कथा-साहित्य के विशद् ज्ञान से उपन्यास लेखन की नूतन शैली विकसित करने में वर्षों का समय लिया था। उनकी जीवन-यात्रा बहुत ही छोटी रही वे मात्र सैंतीस वर्ष की आयु में दिवंगत हुए। अपने नाटकों में उन्होंने परंपरा का पिष्टपेषण किया, लेकिन वे मूलतः यथार्थवादी दृष्टिकोण से सोचने और लिखने वाले लेखक थे। रोमैंटिक दृष्टिकोण उनका था ही नहीं, इसलिए ‘तप्ता संवरण’ जैसा नाटक उनकी पहिचान नहीं बन पाया स्वयं श्रीनिवासदास ने ‘तप्ता संवरण’ की कथावस्तु के लोकोपकारी न होने पर खेद प्रकट किया। नैतिकता और लोकरंजकता का उद्देश्य लेकर ही वे समकालीन नाटककारों के साथ चले थे। अंगरेज़ी साहित्य के सदाचार नीति प्रधान साहित्य के प्रभाव से इस युग के नाटककार श्रृंगार की जगह नीति और आदर्श की ओर मुड़े। ‘तप्ता संवरण’ की प्रस्तावना में नट और सूत्रधार के आपसी वार्तालाप में नाटक के लाभ गिनाए गए हैं —

- नट** “आज तो लाला श्रीनिवासदास रचित ‘तप्ता संवरण’ नाटक करिये और यह भी बतलाइये नाटक करने से क्या लाभ होता है?
- सूत्रधार** क्या तुम नहीं जानते? प्रथम तो मन बहलाने के लिए यह बहुत उत्तम उपाय है, दूसरे नाटककार समय पर अपना रूप वाणी स्वभाव का बदल सकता है, तीसरे नाटक के द्वारा सैकड़ों हजारों वर्ष की बातें प्रत्यक्षवत् दृष्टिगोचर हो जाती हैं इसलिए राजा लोगों को इसका अभ्यास करना अत्यंत आवश्यक है।
- नट** यह ठीक, पर अब तो इस देश में कोई भलामानस नाटक करै तो उसकी बड़ी चर्चा हो।
- सूत्रधार** हाँ, अब तो ऐसे ही है, पर पहले यह बात न थी, क्योंकि होती तो कालिदाससादि महाकवि नाटक न रचते और नाटक उत्तम काव्यों की गणना मैं न होता, देशांतर में तो इसका अब भी बड़ा प्रचार है, ईश्वर करै यहाँ के मनुष्य भी इसका आनंद लें। (प्रथम सं. पृ.1-2)

प्रस्तावना से दो बातें साफ जाहिर होती हैं। पहली तो यह कि भारतेंदु-युग में ‘नाटक’ को पहले-पहल सामाजिकों की स्वीकृति नहीं मिली थी। नाटक लेखन और इनके लिए पाठक, दर्शक और सहृदयों का अभाव था। श्रीकृष्णलाल ने लिखा है - “कुसंस्कारों और कुचालों को दूर करने के लिए नाटकों के अत्यधिक प्रचलन की आवश्यकता को समझकर भारतेंदु ने अनेक लेखों द्वारा नाटक रचने और अभिनय करने की प्रेरणा दी है।”⁹ स्वयं भारतेंदु ने कविवचन सुधा में छपे अपने निबंध में कहा है - “अहा! हे नाटक विरोधी मानव गण आप लोग इस चमत्कार कार्य में क्यों उत्साह नहीं बढ़ाते और इस आनंदमय रस-समुद्र में क्यों नहीं स्नान करते और बड़े-बड़े महात्मा वीर रसिक शिरोमणि दुष्यंत, युधिष्ठिर, राम और वत्सराज ऐसे लोगों के साक्षात् दर्शन और उनके गुण स्वभाव श्रवण की इच्छा क्यों नहीं करते? इस हेतु अब यही हमारी प्रार्थना है कि आप लोग इस बात को सुनकर कान में रुई दे के न बैठें जहाँ तक हो सके इसकी उन्नति में प्रयत्न करें जिससे हमारे देशवासियों का उपकार हो।”¹⁰

हिन्दी नवजागरण के इस दौर में सदियों की ऐतिहासिक परंपरा को पुनरुज्जीवित करना भी लेखकों का लक्ष्य था। नाटकों के कथानक के लिए ऐतिहासिक-पौराणिक घटनाओं का आश्रय लेना एक ओर तो भारतीय ऐतिहासिक धरोहर से जनता के साथ शासक वर्ग को परिचित कराना था तो दूसरी ओर देशोद्धार और देशोन्नति के लिए स्वदेशी (चाहे वह वस्तुएँ हों या पौराणिक चरित्र) भावना को जन-भाषा के माध्यम से जनता तक पहुँचाना था। ‘तप्ता संवरण’ और ‘संयोगिता स्वयंवर’ जैसे नाटकों का साहित्यिक मूल्य भले ही आज के संदर्भ में धरोहर मात्र के रूप में हो, लेकिन औपनिवेशिक भारत के सामाजिक जीवन को इन नाटकों ने गहरे सांस्कृतिक अर्थ दिए। देशोद्धार, देशोन्नति, स्वदेश प्रेम जैसी अवधारणाओं को जनता तक संप्रेषित करने से पहले आवश्यक था - जनता की रुचि को मोड़ना। जनता की रुचि को नाटकों की उन्मुख करने का काम, नवजागरण के इस दौर में, नाटक और प्रहसन कर सकते थे। नाटक और प्रहसन देखने के लिए जनता का शिक्षित होना अनिवार्य नहीं था। नाटक एक सामाजिक सामूहिक अनुष्ठान के रूप में देखे जाएँ जिसके माध्यम से धार्मिक कुरीतियों, अंधविश्वास और रूढ़ियों की आलोचना की जा सके।

प्रारंभ में, जमावड़ा करने के लिए मनोरंजक और शृंगार प्रधान नाटक मंचित किए जाने जरूरी थे ताकि अधिक से अधिक जनता नाटकों को देखने के लिए आए और नाटक के माध्यम से नवजागरण की चेतना संप्रेषित हो। लाला श्रीनिवासदास ने पुस्तकों की अपेक्षा नाटकों को जनसंचार के प्रभावशाली दृश्य-

श्रव्य माध्यम के रूप में विश्लेषित करते हुए 'रणधीर और प्रेममोहिनी' के निवेदन में लिखा - "पुस्तकों में पीटार्क के लेखानुसार 'जामे जमशेद' की तरह संसार को सब चीज़ें दिखाई देती हैं, परंतु जो लोग पुस्तक पढ़कर उसकी राह से उन चीज़ों का रूप अपने मन में नहीं बना सकते उनके लिए नाटक की रीति बहुत हितकारी है, 'सर टाम्स ओबरबरी' लिखता है कि संसार में पाठशाला की अपेक्षा नाटकशाला ज्यादा जरूरी है क्योंकि पढ़ने की अपेक्षा अनुभव से लोग ज्यादा सीखते हैं, देखो नाटक में वर्तमान अथवा हजारों वर्ष पहले की चाहे जिस बात को इस समय अपनी आँखों से देख सकते हो"¹¹

3. 'रणधीर और प्रेममोहिनी' :-

'रणधीर और प्रेममोहिनी' लाला श्रीनिवासदास की तीसरी रचना है, जिसका लेखन एवं प्रकाशन 1878 ई0 में हुआ। यह हिन्दी का पहला दुखान्त नाटक है, जिसकी प्रस्तावना स्वयं भारतेंदु ने लिखी थी। प्रस्तावना में भारतेंदु लिखते हैं- "उस (रणधीर और प्रेममोहिनी) नाटक में वे सब गुण हैं जो मैं चाहता हूँ।"¹² भारतेंदु जिस निश्चित योजना के अनुसार राष्ट्र के सांस्कृतिक पुनरुत्थान, आर्थिक नवनिर्माण और राजनीतिक स्वातंत्र्य की उद्दाम कामना से अनुप्राणित होकर साहित्य रचना में स्वयं प्रवृत्त हुए थे, तथा अपने सहयोगियों को प्रेरित करते थे वही उद्देश्य प्रस्तुत नाटक में भी दिखाई पड़ता है। 'रणधीर और प्रेममोहिनी' पर संस्कृत और पाश्चात्य नाट्य कला का मिश्रित प्रभाव है। 19वीं शताब्दी में भारतेंदु की 'चंद्रावली' नाटिका और श्रीनिवासदास के नाटक 'रणधीर और प्रेममोहिनी' को सर्वाधिक सफलता मिली। चूंकि 'चंद्रावली' नाटिका में अधिकांश भाग काव्य का है, ऐसी स्थिति में वास्तविक नाट्यकला 'रणधीर-प्रेममोहिनी' में ही दिखाई देती है।

लाला श्रीनिवासदास का यह नाटक औपनिवेशिक भारत में देशी भाषा के माध्यम से पढ़े-लिखे बुद्धिजीवियों में विकसित हो रही नयी साहित्यिक-सांस्कृतिक रूचि के विकास का प्रमाण है। राजा लक्ष्मणदास की कोठी की देखभाल करने के दौरान श्रीनिवासदास को अंग्रेजी और भारतीय भाषाओं में उपलब्ध साहित्य पढ़ने का पर्याप्त अवकाश मिला करता था। साथ ही वे विविध भाषाओं के जानकार तो थे ही, 'रणधीर प्रेममोहिनी' के कथानक का आधार उन्होंने गुजराती के नाटक 'राजवाडानीकथा' को बनाया। वे लिखते हैं- "रणधीरसिंह और प्रेममोहिनी' के नाटक में स्वयंवर का मूल मात्र गुजराती 'राजवाडानीकथा' पर सँ लिया गया है परन्तु देव परियों के असंभव रोग से ये बिल्कुल बचा हुआ है। हाँ इसमें मेज़, कुरसी, लंप, घड़ी, इक्का आदि इस समय के पदार्थों का विषय आ गया है परन्तु ये सब चीज़ें असंभव पदार्थों की गिन्ती में नहीं हैं।"¹³

स्पष्ट है कि लाला श्रीनिवासदास यथार्थवादी नाट्य रचना कर रहे थे। अंग्रेजी नाटकों के अध्ययन से उनके मन में परंपरागत पौराणिक, ऐतिहासिक कथानक से कुछ अलग हट कर रचने की प्रेरणा हुई। 'ऑथेलो' 'रोमियोजूलियट' का प्रभाव उनपर था, जिनकी रचना के पीछे यूरोप का सांस्कृतिक पुनरुत्थान ही प्रेरणा बना था। मध्ययुगीन जड़ता, रूढ़ियों, अंधविश्वासों, गॉथिक वास्तुविद्या, संकीर्ण दृष्टिकोण, ह्यासोन्मुखी अर्थव्यस्था और सामन्ती अराष्ट्रीयता की जगह संदेह, व्यक्तिवाद, मुक्ति और आत्माभिव्यक्ति की इच्छा यूरोपीय पुनर्जागरण का वैशिष्ट्य थी। श्रीनिवासदास मध्ययुगीन रम्याख्यान की जगह यथार्थवाद को प्रमुखता देते थे, क्योंकि बदले हुए समय में, भारत की विशिष्ट औपनिवेशिक स्थिति में देशी भाषाओं के माध्यम से भारतीयों में अपने सांस्कृतिक गौरव-बोध को जगाने के साथ-साथ सामाजिक चरित्र के पतन को रोकना अनिवार्य था। उनकी रचनाओं में, नैतिकता बोध और व्यक्तिगत-सामाजिक मूल्यों की स्थापना

का प्रयास इसीलिए दिखाई देता है। भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी से लेकर विक्टोरिया का शासन ब्रिटिश राज की एक सोची समझी नीति का परिणाम था। भारत के पूर्णरूप से औपनिवेशिक शासन के तहत आते ही देशी-सांस्कृतिक विरासत के अतिक्रमण पर बल दिया जाने लगा, अर्थात् अब निहित उद्देश्य सामने आ गए। ब्रिटिश राज ने देश के बुद्धिजीवी पर अपना वर्चस्व कायम करने का प्रयास किया लेकिन देशी भाषाओं के माध्यम से ज्ञान का प्रसार भारतीय जनमानस के लिए ज्यादा आत्मीय था। इसीलिए भारतेंदु और उनके सहयोगियों ने नवजागरण की चेतना के प्रचार-प्रसार के लिए देशी-भाषाओं को माध्यम बनाया। “इसलिए रणधीरसिंह और प्रेममोहिनी के नाटक की निज भाषा हिन्दी रक्खी गई।”¹⁴

श्रीनिवासदास ने हिन्दी में दुखान्त नाटकों का अभाव देखा था। शेक्सपियर के प्रभाव से वे एक दुखान्त नाटक रचना चाहते थे, क्योंकि दुःख का प्रभाव सहृदय पर दीर्घकालिक होता है। वे न सिर्फ शेक्सपियर की उक्तियों को अपनी रचनाओं में अनेक स्थलों पर उद्धृत करते हैं बल्कि ‘निवेदन’ में कहते भी हैं- “रणधीरसिंह और प्रेममोहिनी का नाटक ट्रेजेडी है और अंग्रेज़ी में ऑथेलो, रोमियो-जुलियट, बंगला में कृष्णाकुमारी, नीलदर्पण, गुजराती में ‘जमशेद’ और ‘रुस्तमसोहराब’ वगैरे बहुत भाषाओं में ट्रेजेडी नाटक मिलते हैं। नाटक का खेल पूरा हुआ पीछे ट्रेजेडी का असर बहुत देर तक देखने वालों के मन में बना रहता है। नाटक करनेवालों को देखनेवालों के मन पर पूरा असर करने के लिए पहले अपने मन पर असर पैदा करना चाहिए, और संभव (मुश्किल) बातों को साधारण बोलचाल में भाव सहित कर दिखाने से देखनेवालों के मन पर पूरा असर होता है। परन्तु यै काम करने में ऐसे सहज नहीं जैसे कहने में जाने जाते हैं।”¹⁵

स्पष्ट है कि सहृदय का साधारणीकरण और अंग्रेज़ी दुखान्त नाटकों की लोकप्रियता श्रीनिवासदास को अभीष्ट थी। वे किसी भी काल्पनिक, तिलिस्मी, अलौकिक चित्रण से बचना चाहते थे। वे एक भारतीय प्रामाणिक मनुष्य के यथार्थ जीवन को आधार बनाकर नाट्य रचना में प्रवृत्त हुए। रणधीर प्रेममोहिनी का कथानक अत्यंत सरल एवं एक रैखीय है, जिसमें ‘रणधीर और प्रेममोहिनी’ की दुखान्त प्रेम कथा कही गयी है। कथानक इस प्रकार है - “रणधीर और प्रेममोहिनी, में दो राज परिवारों की कथा कही गयी है। एक परिवार सूरत के महाराज का है। जिसमें महाराज के अतिरिक्त उनका पुत्र रिपुदमन सिंह और कन्या प्रेममोहिनी है। प्रेममोहिनी के साथ उसकी दो सखियाँ मालती और चम्पा हैं। दूसरा परिवार रणधीर सिंह का है जो पाटन का निर्वासित राजकुमार है और सूरत में आकर राज-महल के पास ही अपरिचित परदेशी बनकर ठहरा है। निर्वासित होने पर भी इस परदेशी क्षत्रिय के पास विदूषक के रूप में चौबे जी, कारिन्दा के रूप में सुखबासीलाल, मोदी के रूप में नाथूराम, भृत्य जीवन और गुरु तथा पुरोहित के रूप में पंडित सोमदत्त हैं। दैवयोग से शिकार खेलने में रिपुदमन और रणधीर सिंह की मित्रता हो जाती है और सखियों द्वारा रणधीर की धीरता, वीरता और सौन्दर्य आदि गुणों की चर्चा सुन प्रेममोहिनी भी उसकी ओर आकृष्ट होती है। परंतु उन दोनों के पिता सूरतपति का रणधीर के प्रति अकारण द्वेष भाव है, संभवतः इसलिए कि इस अभिमानी राजा को रणधीर के राजकुमार होने की बात ज्ञात नहीं है, वे उसे एक साधारण परदेशी क्षत्रिय मात्र जानते हैं। प्रेममोहिनी के स्वयंवर में रणधीर के अनाहूत प्रवेश और निर्भीक व्यवहार से सूरतपति का क्रोध और प्रेममोहिनी का प्रेम द्विगुणित हो उठता है और स्वयंवर में आए हुए नरेशों की कायरता तथा रिपुदमन के मैत्री-निर्वाह और रणधीर की वीरता के कारण नाटक का दुखद अंत होता है। कथा का विकास सरल रेखा में हुआ है जिसमें दैव-संयोग और आकस्मिक घटनाओं का पूरा योन है, दैवयोग से रणधीर पाटन से सूरत आकर राजमहल के पीछे ठहरता है जहाँ प्रेममोहिनी की

सखियाँ उसे और उसके करतब देख देखकर मुग्ध हो राजकुमारी से उसका गुण वर्णन करती हैं। देवयोग से ही जब रिपुदमन को मारने के लिए सिंह पंजा उठाता है तभी अचानक रणधीर आकर सिंह के पेट में कटार मार रिपुदमन के प्राण बचाता है और दोनों में मैत्री स्थापित हो जाती है; फिर दैवयोग से ही सूरतपति की स्वयंवर-सभा में सरोजनी नृत्य करती हुई गाती है और रणधीर पिछले दिन की भूल सुधारने के लिए गले से मोतियों का हार निकाल कर देता है और इसी के कारण सारा बखेड़ा खड़ा होता है जिसमें रिपुदमन, रणधीर और अन्य अनेक लोगों की मृत्यु का योग उपस्थित होता है। किंतु केवल इन आकस्मिक घटनाओं एवं दैव-संयोग से ही नाटक का दुखद अंत नहीं होता, सूरतपति के अहंकार और रणधीर तथा रिपुदमन की राजपूती आन बान-शान के कारण भी अनेक लोगों को व्यर्थ प्राण देने पड़ते हैं। सब मिलाकर 'रणधीर और प्रेममोहिनी' का कथानक अत्यंत सरल है और इसमें आकस्मिक घटनाओं के सहारे ही कथानक आगे बढ़ता है।¹⁶

'रणधीर प्रेममोहिनी' के विषय में 'भारतेंदु मंडल' के लेखक श्री ब्रजरत्नदास की टिप्पणी निम्नवत् है - "यह नाटक सं.1934 में समाप्त होकर उसी वर्ष प्रकाशित हुआ और सदादर्श-सम्मिलित कविवचन सुधा के पाठकों में वितरित हुआ। इसमें आरंभ में ग्यारह पृष्ठों पर निवेदन तथा संकेत दिया गया है, जिसमें नाट्यकला ही पर विशेष लिखा गया है। नाटक पाँच अंकों में बँटा हुआ है। प्रथम और तृतीय में पाँच-पाँच तथा द्वितीय और चतुर्थ में चार-चार गर्भाङ्क हैं। पाँचवें में केवल एक गर्भाङ्क है। यह दुःखांत नाटक है और इसमें पुरानी शैली के अनुसार प्रस्तावना आदि नहीं हैं। कथावस्तु नीचे दिया जाता है :

पाटन का राजकुमार रणधीर सिंह पिता से रुष्ट होकर सूरत में जा बसता है और वहाँ की राजकुमारी प्रेममोहिनी के स्वयंवर में उसका अपमान होता है। अहेर में रणधीर सिंह सिंह प्रेममोहिनी के भाई रिपुदमन सिंह की शेर से रक्षा करता है और दोनों की मित्रता हो जाती है। रणधीर सिंह के कर्मचारी लोभ से इसे मदिरा-वेश्या की ओर आकर्षित करना चाहते हैं पर इस मित्र तथा स्वामिभक्त सेवक जीवन की सम्मति तथा अपने मन की दृढ़ता से वह इनसे दूर रहता है। रणधीर तथा प्रेम-मोहिनी में प्रेम हो जाता है। स्वयंवर में आये हुए राजे सूरत-नरेश की आज्ञा से, जो अपने को रणधीर द्वारा अपमानित समझने लगता था, सम्मिलित रूप में रणधीर के महल पर धावा करते हैं। रिपुदमन इसकी सहायता करने में मारा जाता है और रणधीर भी शत्रुओं का अंत कर अत्यंत घायल हो प्रेममोहिनी के पास जाता है तथा उसीकी गोद में प्राण-त्याग करता है। प्रेममोहिनी की भी मृत्यु हो जाती है और दोनों एक ही चिता पर भस्म होते हैं।

कथावस्तु का गठन अच्छा हुआ है और श्रृंगार तथा वीर रसों का कथानक में सुंदर सम्मिश्रण हुआ है। हास्य-रस का पुट भी चौबेजी की बातचीत में खूब है और अंत में करुणा ही करुणा है। रणधीर का चरित्र-चित्रण धीर-वीर नायक रूप में कुशलता पूर्वक किया गया है। जिस प्रकार वह प्रेम में अटल था उसी प्रकार वह सभा, युद्ध तथा मित्र की सहायता में भी रहा। सांसारिक मोहपाशों से दृढ़ता से उसने अपनी रक्षा की, मित्र तथा अनुचरों के दुःख-सुख में साथ दिया और दुष्ट मित्रों को बदला देने की चेष्टा भी नहीं की। प्रेममोहिनी में रणधीर के प्रति जो अनुराग उत्पन्न हुआ वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और अंत में वह उसी पर बलिदान भी हो गई। रिपुदमनसिंह ने संयोगवश रणधीरसिंह से जो मित्रता स्थापित की उसे अपने प्राण के साथ निबाहा। अपने मित्र को सदा कुमित्रों से सतर्क रहने तथा कुमार्ग की ओर मन न जाय इसके लिए सदा सुसम्मति देने और पिता के सामने मित्र का पक्ष ग्रहण करने में इन्होंने मित्र का आदर्श दिखलाया। अवश्य ही यदि रिपुदमनसिंह अपने पिता से खुलकर सब बातें कह देते तो स्यात् नाटक दुःखांत

न होता। सेवक जीवन की सच्ची स्वामिभक्ति तथा सुखबासीलाल का स्वामिद्रोह बड़ी सुंदरता से चित्रित किया गया है। कथोपकथन की भाषा पात्रों के अनुकूल रखी गई है और उसमें आवश्यकतानुसार ओज, आवेश, मृदुता आदि भी हैं। कहीं-कहीं व्यर्थ ही फारसी अरबी के कठिन शब्द प्रयुक्त किए गए हैं और सरल संस्कृत शब्दों के अर्थ पाद-टिप्पणी में फारसी अरबी में दिए गए हैं। मारवाड़ी भाषा भी यत्र-तत्र आ गई है और कुछ पद्य तथा गाने भी रखे गए हैं। प्रकृत्या लालाजी ने सांसारिक अनुभव की बहुत-सी बातें पात्रों के मुख से कहलाई हैं पर ऐसी कुशलता से कि वे सहज स्वाभाविक ज्ञात होती हैं।

यह नाटक प्राचीन तथा नवीन शैली के मिश्रित रूप में लिखा गया है और सफलता पूर्वक। यह कुछ हेर-फेर के साथ अभिनय योग्य भी है। इसमें स्वगत की योजना अन्य नाटकों से कहीं अधिक रखी गई है और पात्रों द्वारा लंबे-लंबे भाषण दिलाए गए हैं। यद्यपि इनमें पठनीय तथा अनुभव की बातें ही अधिक हैं पर नाटक में इनकी आवश्यकता नहीं होती। भाषा के संबंध में स्वयं भूमिका में लिखते हैं कि 'दोनों की तरफ़दारी छोड़कर साधारण बोल-चाल पर बरताव किया गया। हाँ, कहीं बहुत जरूरत पड़ी तो दूसरी भाषा (फारसी) का सहज वचन लेकर काम चला लिया।' पात्रों की योग्यता का ध्यान रखते हुए उनसे वैसी ही भाषा में बातचीत कराई है। जैसे, जीवन सेवक आवेश में छोटे-छोटे वाक्यों में सरल भाषा में कहता है -

'क्या मैं रणधीरसिंह से बेईमान हो जाऊँ? एक को मालिक बनाकर दूसरे की आस करूँ? झूठी मेहनत दिखलाकर मालिक को धोखा दूँ मुझसे तो यह नहीं हो सकता। मैं तो सच्ची मेहनत भी नहीं जताया चाहता। जताऊँ क्या? जिसके अन्न से इस देह का पालन होता है उसके काम में यह देह को लगाना चाहिए।'

अब लोभी, कपट सुखबासीलाल कायस्थ अपने हृदय की बात इस प्रकार कहता है -

'आज तो हमारे खुदावंद न्यामत शिकारगाह से एक नया पंछी लाए थे। देखें इसका क्या ढंग रहे। चौबे जी तो सवा पाव घी के सीधे में निहाल हैं लेकिन हमारे दिल की ख्वाहिश कभी पूरी न हुई। हमारे बिरादरी लोग हजारों का फायदा उठाते हैं हर काम के आगाज में चंद दर चंद नुक्स नुमायाँ होते हैं मगर कोशिश व तनदेही करने से वह सब ब आसानी रफ़ हो सकते हैं।''

प्रेम और सौंदर्यचेतना को अधिक युगानुकूल शैली एवं उपयुक्त चरित्रों के माध्यम से व्यक्त करने वाले इस नाटक को हिन्दी नाटक की यथार्थवादी परंपरा के प्रस्थान बिंदु के रूप में देखा जा सकता है। विरासत में मिली अयथार्थवादी, काल्पनिक, परंपरावादी साहित्य परंपरा का जिन्न करते हुए श्रीनिवासदास लिखते हैं- "दो ढाई हजार वर्ष पहले से देव और परियों के दिखाई देने, नाचने, मोहित होकर आदमियों को उड़ा लै जाने, अथवा जादूगरों के जादू से देव हाजिर होने, मकान वगैरे के उड़ने की बात सब लोग झूठी जानते हैं, परन्तु नाटक के सुधरे हुए खेल में सै अब तक ये बातें दूर नहीं हुई। ... इनके बदले ये लोग स्वाभाविक (कुदरती) बातों (Naturalism) के दिखाने में मेहनत करें तो सबके लिए अच्छा हो।"¹⁷ श्रीनिवासदास जिसे स्वाभाविकता या Naturalism कह रहे हैं- वास्तव में वह यथार्थवाद की अभिव्यक्ति की अकुलाहट है। प्राकृतिकवाद को यथार्थवाद का पर्याय नहीं माना जा सकता। नेचुरलिज़्म मानव जीवन की सच्चरित्रता, नीचता को यथावत् रख देता है, वह जीवन-जगत, मनुष्य की दुर्बलताओं क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है - जो मनुष्य को निराशावादी बना सकता है। जिसकी अपेक्षा श्रीनिवासदास नाटकों के संदर्भ में कर रहे हैं, वह जीवन के गर्हित या उज्ज्वल पक्ष का एकांगी चित्रण न होकर संश्लिष्ट, संतुलित और वैज्ञानिक चित्रण होता है। कोई भी लेखक अपनी समसामयिक परिस्थितियों का चित्रण अपनी कृति में

अवश्य करता है। टी.एस.इलियट ने साहित्य में समसामयिकता के पक्ष पर विशेष बल दिया है, उसने स्पष्ट शब्दों में बताया है कि लेखक का अपनी समसामयिक समस्याओं से जुड़ना अनिवार्य होता है। श्रीनिवासदास को समकालीन यूरोप में हुए यथार्थवादी आंदोलन (1830-1840) की कितनी जानकारी थी यह कहना मुश्किल है, लेकिन यथार्थवादी आंदोलन के जिस प्रभाव से साहित्य आमूल-चूल बदल गया, उसका प्रभाव उनपर अवश्य पड़ा। यथार्थवाद के प्रथम चरण में यूरोप में अनेक साहित्य विधाओं का विकास हुआ। उपन्यास के क्षेत्र में नए-नए प्रयोग हुए। बाल्ज़ाक, पुश्किन, लमॉन्टोव, गोगोल, डिकेन्स, एन्थनी, ट्रोलोप, थैकरे इनमें प्रमुख थे। विज्ञान के विकास तथा पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के प्रसार के साथ-साथ जैसे-जैसे बर्जुआ संबंध विकसित एवं वर्ग प्रतिरोध बढ़ता गया, साहित्य में यथार्थ के प्रति झुकाव बढ़ता गया। यथार्थवाद की अपरिहार्य तात्विक विशेषता होती है- विश्लेषण, किसी कृति में समाज का विश्लेषण कितना वैज्ञानिक है, मानव संबंधों का विश्लेषण एवं मानवीय चरित्र का विश्लेषण कितनी गहराई के साथ किया गया है-यही यथार्थवाद की मौलिक पहचान है। मानवतावादी आदर्शों और वास्तविकताओं के बीच के अन्तर तथा विसंगतियों के मूल कारणों की गहराई में प्रवेश करना, अंतर्विरोधों के सार का परीक्षण करना ही किसी रचना को यथार्थवादी बनाता है। यथार्थवादी दृष्टि के बल पर ही पश्चिमी लेखकों ने अपने समाज की जड़ता पर प्रहार किया। श्रीनिवासदास अपनी सीमाओं में नवीन शक्तियों की छोटपटाहट को व्यक्त करते हैं। उनके नाटक, उपन्यास में समाज की गतानुगतिकता पर क्षोभ अत्यंत मुखर है। ‘रणधीर प्रेममोहिनी’ में वे प्रेम का जो विमर्श रचते हैं, उसमें परंपरागत रूढ़िग्रस्तता पर प्रहार है। समसामयिक परिस्थितियों का चित्रण, पक्ष-प्रतिपक्ष की स्थापना, वस्तु विन्यास के अन्तर्गत देखने को मिलती है। ऐसे समाज में, जहाँ प्रेम की कोमलता पर सामाजिक मर्यादाएँ, अभिभावकों की दुराग्रहता भारी पड़ रही थी। असंख्य युवक-युवतियाँ बेमेल और अनिच्छित विवाह-संबंधों में जकड़े जा रहे थे वहाँ ‘रणधीर प्रेममोहिनी’ व्यक्ति अस्मिता को महत्ता देने के लिए रचा गया। रणधीरसिंह अपने-आपको को साधारण राजपूत के रूप में प्रस्तुत करता है, फलतः सूरत नरेश अपनी पुत्री के स्वयंवर में उसका अपमान करते हैं। वह मृत्युपर्यंत यह नहीं बताता कि वह पाटन का राजकुमार है। स्वयंवरसभा में उपस्थित सभी राजा उसकी वीरता के आगे फीके पड़ जाते हैं। सूरत के राजा द्वारा अपमान किए जाने पर भी वह अपने सामंती परिचय का सहारा नहीं लेता। वह व्यक्ति के रूप में पहचाने जाने का इच्छुक है। वह रिपुदमनसिंह से मित्रता निभाने का वायदा करता है और अन्ततः मृत्यु को प्राप्त होता है। उसकी मृत्यु के साथ प्रेममोहिनी भी प्राणत्याग कर देती है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के भारतीय समाज में प्रेम और उसकी परिणति का विमर्श जो श्रीनिवासदास तैयार कर रहे थे, उससे भविष्य के लेखकों ने ऊर्जा ग्रहण की। प्रेममोहिनी का प्राणत्याग अत्यंत नाटकीय लगता है लेकिन नाटककार का उद्देश्य व्यक्तिगत इच्छा के समाज द्वारा दमन के परिणाम को दिखाना है।

प्रेम और मित्रता के लिए रणधीरसिंह का प्राण दे देना, उसे सार्थक जीवंत चरित्र के रूप में स्थापित कर देता है और साधारण लौकिक प्रेम उदात्तता की भूमि पर खड़ा हो जाता है, जिसकी परिणति ‘उसने कहा था’ (चंद्रधर शर्मा गुलेरी) में देखी जा सकती है। प्रेम केवल पाना ही नहीं- समर्पण भी है- भले वह प्राणों का ही क्यों न हो।

पुरुष और स्त्री का पारस्परिक आकर्षण और प्रेम एक मानवीय वृत्ति है, यही मनुष्य की आदिम प्रवृत्ति भी है।¹⁸ सखियां रणधीरसिंह के रूप-गुण का वर्णन करके प्रेममोहिनी के मन में आसक्ति जगाती हैं -- “मालती - क्यों नहीं। मेरा तेरा जी एक है, इसलिए कहती हूँ तू ने रणधीर कुमार को देखा है? सखी

! उसको स्मरण करते ही शरीर के रोम खड़े हो जाते हैं। उसका सब अंग सांचे ढाल बना है। मैंने तो ऐसी सजधज का ज्वान सब उमर में कभी नहीं देखा था। जिस समय वह अपने 'पवनवेग' घोड़े को किले के मैदान में फेरकर अपना कर्तब दिखाता है, उस समय, और राजकुमार उसकी फुर्ती देख, चकित हो, चित्र बन जाते हैं। उसके शरीर में चुस्त पोशाक ऐसी जमकर बैठती है कि बहुत से राजकुमार उसकी नकल करते हैं। जिस समय उसके मनोहर मुख की रसभरी मुसकान और झलकते नेत्रों की मदमाती चितवन मेरे ध्यान में आती है, मेरी तो सुध बुध ठिकाने नहीं रहती। मैं उसकी अलबेली छवि कहाँ तक वर्णन करूँ; सब नगर उसकी मोहिनी मूरत देख मोहित हो रहा है।”¹⁹

प्रेममोहिनी यद्यपि रणधीर के रूप वर्णन से प्रभावित है तथापि वह मोहित नहीं हुई है। वह अविवेकी प्रेम के पक्ष में नहीं है। रणधीरसिंह के स्वभाव और चरित्र को जाने बिना वह केवल रूप-चर्चा से आसक्त नहीं होती- “...मैं सुभाव की परीक्षा किये बिना प्रीति नहीं किया चाहती; क्योंकि गुण की प्रीति के समान रूप की प्रीति मन में नहीं होती, केवल आँखों में रहती है और रूप घटने अथवा उसके अधिक मिलने पर वो तत्काल घट जाती है।”²⁰ विवेकबुद्धि और सावधानी से 'प्रेम' चुनने का बोध प्रेममोहिनी के चरित्र को आधुनिक बनाता है। उधर रणधीर प्रेममोहिनी के वचन सुनकर उसपर मुग्ध तो होता है लेकिन अपने प्रति उसके भाव को परख कर ही आगे कदम बढ़ाना चाहता है और सोचता है ... “मैं अपने मन को बहुत सम्हालता हूँ पर इसके मिलाप से मेरा पत्थर-सा हृदय आप ही मोम हुआ जाता है। (प्रकट) मैं तुम्हारी पहली का अर्थ समझ गया, पर इससे पहले मुझको तुम्हारी प्रीति का प्रमाण मिलना चाहिए।”²¹

रणधीरसिंह प्रेम की परीक्षा लेकर ही प्रेम करने में प्रवृत्त होता है। इन दोनों का प्रेम करने का मूल्य उनके प्रेम की प्रक्रिया के भीतर से ही उत्पन्न होता है। इसके भीतर जो समस्या है वह यह कि रणधीर वीर होते हुए भी राजा नहीं है और प्रेममोहिनी का पिता सूरत नरेश अपनी कन्या का विवाह किसी राजा से ही करने के लिए कटिबद्ध है। धर्म, कुल एवं समाज की परंपराओं के आगे रणधीर का वीरत्व कुछ मायने नहीं रखता। वह अकेला ही उपस्थित सभी राजाओं पर भारी पड़ता है, लेकिन सूरत नरेश उसे अपमानित करता है। रणधीर अपने को ऐसी स्थिति में पाता है जहाँ वह तमाम संबंधों के ऊपर प्रेम और मित्रता को बड़ी स्पष्टता से अनुभव करता है। यहाँ से व्यक्तिगत अनुभव की सत्यता और मर्यादा का द्वंद्व प्रारंभ होता है। वह रिपुदमन से कहता है -- “मेरे जान अच्छे आदमियों को कभी कोई काम छिपकर न करना चाहिए। जिस काम में कुछ पाप, डर, दगा, लिहाज वा संदेह रहता है उसको आदमी छिपकर किया चाहते हैं परंतु जिन लोगों का मन साफ है, जिनकी नियत अच्छी है, जो किसी से बनावट की बात नहीं किया चाहते, जो परिणाम सोचकर काम करने वाले हैं, उनको कभी छिपकर कोई काम करने की जरूरत नहीं पड़ती...।”²²

सामाजिक मर्यादा तो यही है कि वह राजकुल से अपना संबंध उजागर करे, लेकिन पिता का राज्य छोड़ आने पर वह अपनी पहचान स्वयं बनाना चाहता है। वह अपने मूल्यों का स्रोत स्वयं बनता है। अपने नैतिकतावादी सिद्धांतों को अपने चरित्र पर बड़ी सच्चाई से अमल करता है। वेश्या के जाल में न फंसकर वह बार-बार आत्मान्वेषण करता है -- “उस दिन से मैंने सब बातों में अपना स्वरूप देखकर हद बाँद रखी है और हर घड़ी अपने सुभाव को जाँचता रहता हूँ। आमदनी से कम खर्च रखने की प्रतिज्ञा है...”²³ जिस प्रामाणिक मनुष्य का विशद वर्णन 'परीक्षागुरु' में श्रीनिवासदास ब्रजकिशोर के चरित्र के माध्यम से करते हैं - रणधीरसिंह का चरित्र भी उसी की झलक दिखाता है। वह आमदनी से कम खर्च में विश्वास करता है। किसी पर भी तुरन्त विश्वास नहीं करता और विश्वास कर लेने पर उस संबंध को

आजीवन निभाता है। रिपुदमनसिंह से मैत्री संबंध निर्वाह करने के लिए वह प्राण दे देता है। वह सामंती जीवन शैली को नकारता आधुनिक चरित्र है, जो अपने नौकर (जीवन) से समानता का व्यवहार करता है। वह स्त्रियों का सम्मान करता है। आधुनिक मनुष्य की पहचान बताते हुए कहता है -- “पानी की पोल के समान समय में अवकाश भर रहा है परंतु सब लोग आलस्य कर अपना समय व्यर्थ खोते हैं। काम की बहुतायत नाम मात्र समझनी चाहिये, क्योंकि सब लोगों को उनके मामूली काम सिवाय कोई आवश्यक काम आ जाता है। तब वो उसके लिए उतने ही काल में अवकाश निकाल लेते हैं, जो ऐसा अवकाश हर बार उपयोग में आता रहे तो कितना लाभ हो!”²⁴ लाला श्रीनिवासदास अपने चरित्रों के माध्यम से आधुनिक विचारशील मनुष्य की प्रस्तावना करते हैं। सूरत और पाटन नरेश, रणधीरसिंह की मृत्यु के बाद दुखित और पापबोध से पीड़ित होते हैं। उनकी यह ग्लानि वक्त रहते सही निर्णय न ले पाने की ग्लानि है। लेखक ने आधुनिकता को एक जीवन पद्धति के रूप में स्वीकार किया है -- “यह पद्धति ही संपूर्ण जीवन का संस्कार करती है, इतिहास को एक बड़ा मोड़ देती है और शायद वह युगों बाद स्पष्ट हो पाती है।”²⁵ जिस समय श्रीनिवासदास यह नाटक लिख रहे थे, उनके मन युगानुरूप आधुनिकता की एक स्पष्ट अवधारणा विद्यमान थी। मनुष्य चरित्र का प्रकारांतर से भारतीय मनुष्य की दुर्बलताओं - सबलताओं का ज्ञान उन्हें अच्छी तरह से था। मनुष्य का अविवेकी व्यक्तित्व ही समस्याओं को आमंत्रित करता है। चाटुकार, हाँ में हाँ मिलानेवाले चरित्रों का अंकन वे बखूबी करते हैं। प्रेमचंद जिस सूत्र शैली के लिए प्रसिद्ध हैं लाला श्रीनिवासदास के लेखन में उसी सूत्र शैली का उद्भव देखा जा सकता है। वे मूल्यों की स्थापना के लिए, भारतीय चरित्र में नैतिक बोध जागृत करने के लिए बार-बार देशी-विदेशी साहित्य के उद्घरणों का, औपनिषदिक सूत्र शैली का सहारा लेते हैं - जिनमें से निम्नवत् को उदाहरण स्वरूप देखा जा सकता है--

1. मैंने ऐसे बहुत अविचारी मनुष्य देखे हैं जो अपनी बड़ाई के लालच से ऐसे अनेक उपाय किया करते हैं। जिन चिलबिले लड़कों से महनत नहीं होती हो अपने मा बाप को अपनी सुकुमारता का धोका देकर ठगते हैं और जिन मूर्खों को विद्या नहीं आती वो विद्यावान बन कर छोटे रूजगार में अपनी स्वरूप हानि बताते हैं जिन छिचोरों की तरफ कोई भी स्त्री प्रीति से नहीं देखती वो अपने संगतियों में बैठकर झूठी बातें बनाने में अपनी बड़ाई समझते हैं, जिन दरिद्रियों के पास धन नहीं होता वे धनवानों के पास बैठकर झूठी दौलत दिखाने का रूप बनाते हैं।²⁶
2. “ये खुशामद मेरे लिए मीठा विष है। इसी के भुलावे में आकर बहुत से धनवान नष्ट होते हैं, अपना निजरूप भूल जाते हैं और हितकारियों के वचन कडुए लगते हैं। मैं ऐसा रोग अपने पीछे नहीं लगाया चाहता। इससे जुए के नफ़े की भाँत कभी सुख नहीं मिलता। खोटे लोगों की संगति से तो एकांत में रहना हर भाँत अच्छा है।²⁷
3. प्रीति की कसौटी विपत्ति है और उपकारियों को बदला देने का ये समय आया है। जो लोग प्रयोजन की प्रीति करते हैं, उनका जीतब धिक्कार है। उनका मुख देखने से पाप होता है। जो लोग झूठी प्रीति जताकर दूसरे को ठगते हैं, उनके मां बाप को कलंक लगता है। मेरा राजपाट जाय तो भले ही जावे, परलोक बिगड़े तो भले ही बिगड़े!”²⁸
4. जो राजा मतवाले होकर आठ पहर रणवास में बैठे रहते हैं, जो राजा वेश्यागामी होकर उनके पीछे हैं, जो राजा अपनी प्रजा के दुःख सुख का कुछ विचार नहीं करते, जो राजा अपने दफ्तर

या खजाने, तोशेखाने को कभी नहीं सम्हालते, जो राजा अपने बड़ों की धरोहर शस्त्र विद्या को जड़ मूल से भूल गये, उनके जीतब पर धिक्कार है।²⁹

5. राजा कुछ ईश्वर नहीं, देवता नहीं वो सब प्रजा की तरफ से एक अधिकारी मात्र है। उसको प्रजा की रक्षा और भलाई के लिये सब तरह का अधिकार है, परंतु उसको प्रजा की रक्षा और भलाई के लिये प्रजा से धरती की उपज का छठा हिस्सा मिलता है। उसको देश की रक्षा और प्रजा की भलाई के लिए सब तरह का अधिकार है, परंतु उसको प्रजा पर किसी तरह की अनीति करना अथवा प्रजा के रुपये को अपने ऐश आराम के कामों में खर्च करना उचित नहीं। जो राजा अपने स्वार्थ अथवा पक्षपात से प्रजा को दुख देता है उसका कभी भला नहीं होता।³⁰

6. संसार में पुत्र शोक की बराबर कौन सा दुख होता है? जब कोई राजा बिना संतान मरता है तो उसका राज यों ही औरों के राज में मिल जाता है। हाय! यही हाल अब हमारे राज का होगा।³¹

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि जिन मूल्यों की स्थापना वे अपने लेखन में कर रहे थे, वे मूल्य युग की आवश्यकताओं से ही पैदा हुए थे। दयानंद के आर्यसमाजी सिद्धांतों, प्राक् औपनिवेशिक तथा औपनिर्वेशिक भारत में चल रहे समाज-सुधार कार्यक्रमों, उनसे जुड़ी विचारधाराओं का स्पष्ट प्रभाव उनके लेखन में देखा जा सकता है। वे बार-बार ऐसे भारतीय मनुष्य की कल्पना करते हैं -- जो 'प्रामाणिक' है - प्रामाणिकता के लिए सबसे जरूरी चीज़ है 'सावधानी'। 'सावधानी' संबंधों में चरित्र में, दैनंदिन कार्यकलाप में - जिसके अभाव में देश गुलाम है। वे राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करना चाहते हैं - जिसकी आवश्यकता औपनिवेशिक भारत में वे अनुभव करते हैं। अंग्रेजों की बौद्धिक गुलामी ने जीवन-मूल्यों की जगह आडंबर, अप्रामाणिकता प्रदान की है। छोटे-छोटे राजा आत्मान्वेषण नहीं करते, चापलूसी और दरबारी मनोवृत्ति ने उनके भीतर आत्मान्वेषण की प्रवृत्ति को दबा दिया है। अंग्रेज़ भारत के इसी नैतिक पतन का लाभ उठा देश पर बौद्धिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आधिपत्य कर चुके हैं। पश्चिम से आने वाले साहित्य से बौद्धिक वर्ग प्रभावित है - किन्तु साथ ही अपनी संस्कृति और परिवेश की तुलना वह पश्चिम से कर रहा है। आपसी फूट के परिणाम स्वरूप ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन उसे अपने सांस्कृतिक मूल्यों, जड़ों की ओर लौटने का संकेत दे रहा है। श्रीनिवासदास ऐसे बौद्धिक हैं -- जिनमें आदर्श और व्यावहारिकता का अपूर्व संगम है। 'परीक्षागुरु' के पुनर्मुद्रण पर प्रकाशक ने इनके बारे में लिखा था -- "इनकी जैसी रीझबूझ सरकार में थी वैसे ही बिरादरी वाले शहर के महाजन लोग भी इनको मानते थे..."³² नाटक में रणधीर गुजराती बनिए से कहता है -- "तुम लोग और बातों में चाहे जैसे हो, परन्तु बिना विद्या नये रोजगार से दौलत पैदा करने की हिम्मत तुम्हारे साथ में किसी को नहीं होती। इस कारण पुराने धंधे में बहुत लोगों को एक रीति होने से तुम लोगों का नफा तो प्रतिदिन निःसंदेह घटता जाता है।"³³ बदले समय में भारत का आर्थिक विकास नई जानकारी के अभाव में रुक जाएगा। व्यवसायी वर्ग को भी नई शिक्षा से परिचित होने की आवश्यकता है। रोजगार और व्यवसाय के परंपरागत तरीके आधुनिक युग के लायक नहीं रह गए हैं।

श्रीनिवासदास उस आधुनिक चेतना के संवाहक बने, जिसका संवहन एक गतिशील प्रक्रिया के रूप में भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, मैथिली शरण गुप्त, निराला, नागार्जुन से होते हुए अधुनातन साहित्य में देखा जा सकता है। श्रीनिवासदास का समय समाज वही है जब भारतीय मनुष्य विचार प्रक्रिया को आधार बनाकर चलने की भूमिका में था। 'रणधीर प्रेममोहिनी' में श्रीनिवासदास ने प्राचीन, मध्ययुग और आधुनिक युग का अपूर्व संगम प्रस्तुत किया है। नाटक में सूरत के राजा द्वारा कन्या-स्वयंवर का आयोजन

हमें प्राचीन काल की स्वयंवर प्रथा का स्मरण कराता है। मध्ययुगीन प्रेमाख्यानकों का प्रभाव हमें रणधीर-प्रेममोहिनी के प्रेम-व्यापार एवं संवादों में दिखाई देता है -- “देख्यो प्रेम की पंथ जुदी हो, जाने प्रीति रीति रस चाख्यो, ताहि न भावत कोई दीपक की छवि लख पतंग ने, पंख आपनी खोई, बेधत मधुप काठ पर हितबस, कमल न छेदत सोई, जाकी प्रीति लगी काहू सों, याको जानत वोई।”³⁴

समसामयिक यथार्थ के चित्रण को निम्नलिखित अंश में देखा जा सकता है -- “हे भारत भूमि! तू अपनी संतान का ये हाल देखकर क्यों नहीं फटती। हां! किसी नदी या समुद्र में भी इतना जल नहीं आता जो हमलोग उसमें डूब जाएं।”³⁵

‘रणधीर प्रेममोहिनी’ में युगीन यथार्थ की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। श्रीनिवासदास ने इसकी रचना ‘तप्ता संवरण’ के बाद की, लेकिन जितनी लोकप्रियता इस नाटक को मिली उतनी दूसरे नाटक को नहीं। यह नाटक अपने समय के सर्वाधिक लोकप्रिय नाटकों में से था, क्योंकि श्रीनिवासदास की दृष्टि अपने युग के प्रेक्षक और रंगमंच दोनों पर रही है। यह नाटक दृश्यता के गुणों से भरपूर है, जिसके द्वारा अधिकाधिक प्रेक्षक आकर्षित हुए। वस्तु-प्रयोग के अनेक कौशलों का उपयोग दर्शकों को आकर्षित करने के लिए किया गया। लगता है कि यह नाटक रात-रात भर जागकर नाटक देखनेवालों के लिए लिखा गया। लौकिक वृत्त को आधार बनाकर इस शृंगार और उपदेश प्रधान नाटक की रचना की गयी, जिसके बारे में भारतेन्दु ने कहा -- “एक लोटा ही पास हो तो उसे बेचकर इस नाटक को खरीदो।”

दुखांत नाटक होने के कारण रणधीर प्रेममोहिनी सहृदय की संवेदना को झनझना देने वाला साबित हुआ। इसमें ट्रेजेडी की पाश्चात्य रूढ़ियों का यथावत पालन नहीं किया गया, ‘रोमियो-जूलियट’ की तरह नियति को महत्त्व नहीं दिया गया। प्रेमी-प्रेमिका के मिलन में सामाजिक स्थिति के वैषम्य को बाधक रूप में चित्रित किया गया। 1878 ई० में ‘सदादर्श सम्मिलित कविवचन सुधा’ के पाठकों को जब यह नाटक मुफ्त बाँटा गया तो इसकी प्रशंसा चारों ओर हुई। प्रयाग से छपने वाले पत्र इंडियन ट्रिव्यून ने लिखा -- “इस रचना में आदि से अंत तक लेखक ने इंगलैंड के कृत्रिम नाट्य-रचनाओं के अस्वाभाविक आडंबरों के प्रदर्शन के बिना ही निर्बाध रूप से संकलनत्रयी का निर्वाह किया है। किसी काल दोष से यह भदा नहीं हुआ और विषम तत्त्वों के प्रयोग से कहीं असुंदर नहीं हुआ।”³⁶ हिन्दी के ‘सार सुधा निधि’, ‘कविवचन सुधा’, भारतमित्र, सज्जन कीर्ति सुधाकर (उदयपुर) ‘भारतबंधु’ (अलीगढ़) ‘शुभचिंतक’(कानपुर) ‘हिन्दी प्रदीप’ (प्रयाग) आदि पत्रों ने इस नाटक की प्रशंसा मुक्तकंठ से की।³⁷ इसका मंचन प्रयाग की आर्य नाट्य सभा ने 6 दिसंबर 1879 को किया। जिसे देखने के लिए दूर-दूर से लोग आए। श्रीकृष्णदास के अनुसार इसका अभिनय अति उत्तम हुआ। इस अभिनय के लिए भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने एक प्रस्तावना लिखी जो इस प्रकार है --

नान्दी

(गाइए गनपति जगबन्दन। चाल में)

गीत

जय जय हरि निज जन सुखदाई। विश्व ब्रह्म विभु त्रिभुवनराई ॥
भक्त चकोर चंद्र सुखरासी। घट-घट व्यापक अज अविनासी ॥

आरज धर्म प्रचारक स्वामी। प्रेमगम्य प्रभु पन्नगामी ॥
करि करुणा प्रभु प्रीति प्रकासौ। भारत सोक मोह तम नासौ ॥

(सूत्रधार आता है)

सूत्रधार -- हाँ प्रभु ! भारत सोक मोह तम नासौ देखो अंगरेजों की दया से पश्चिम से विद्या का स्रोत प्रवाहित होकर सारे भारतवर्ष को प्लावित कर रहा है परंतु हिन्दू लोग कमल के पत्ते भाँति उसके स्पर्श से अब भी अलग हैं (कुछ सोचकर) सचमुच नाटक के प्रचार से इस भूमि का बहुत कुछ भला हो सकता है, क्योंकि यहाँ के लोग कौतुकी बड़े हैं, दिल्ली से इन लोगों को जैसी शिक्षा दी जा सकती है वैसी और तरह से नहीं, तो मैं भी क्यों न कोई ऐसा नाटक खेलेँ जो आर्य लोगों के चरित्र का शोधक हो, (नेपथ्य की ओर देखकर) प्यारी ! आज क्या यहाँ न आओगी ?

(नटी आती है)

नटी -- प्राणनाथ मैं तो आप ही आती थी, कहिए क्या आज्ञा है ?
सूत्रधार -- प्यारी ! आज इस आर्य समाज के सामने कोई ऐसा नाटक खेलो जिसका फल केवल चित्त बिनोद ही न हो।
नटी -- जो आज्ञा, परंतु वह नाटक सुखांत हो कि दुःखांत ?
सूत्रधार -- प्यारी ! मेरी जान तो इस संसार रूपी कपट नाटक के सूत्रधार ने जगत को दुःखांत बनाया है, कैसा भी राजपाट, उत्साह, विद्या, खेल तमाशा क्यों न हो अंत में कुछ नहीं। सबका अंत दुःख है इससे दुःखांत ही नाटक खेलो।
नटी -- मेरी भी यही इच्छा थी, क्योंकि दुःखांत नाटक का दर्शकों के चित्त पर बहुत देर असर बना रहता है।
सूत्रधार -- और नाटक भी कोई नवीन हो और स्वभाव विरुद्ध न हो, कहो तुम कौन सोचती हो।
नटी -- नाथ ! दिल्ली के रईस लाला श्रीनिवासदास जी का बनाया रणधीर प्रेममोहिनी नाटक क्यों न खेला जाय, मेरे जान तो उसका आज कल हिन्दी समाज में चर्चा भी है इससे वही अच्छा होगा।
सूत्रधार -- हाँ, हाँ बहुत अच्छी बात है, उस नाटक में वे सब गुण हैं जो मैं चाहता हूँ, तो चलो हम लोग शीघ्र ही वेश सजें, और खेल का आरंभ हो।
नटी -- चलिए ।

(दोनों जाते हैं)

नट का गान

आबहु मिली भारत भाई। नाटक देखहु सुख पाई -- आबहु मिलि०
जब सों बढ्यौ विषय इत मूरखता सब नैननि छाई।
तब सों बाढ़े भांड भगतिया गनिका के समुदाई।
ऐसो कोउ न बिनोद रह्यौ इन जामैं जीअ लुभाई।
सज्जन कहन सुनन देखन के लायक दृग सुखदाई।।
ताही सों यह सब गुन पूरन नाटक रच्यौ बनाई।
याहि देखि श्रम करहु सफल मम यह बिनवत सिर नाई ।।

आबहु मिलि भारत भाई ।।

श्री हरिश्चंद्र (बनारस)

4. संयोगिता स्वयंवर :-

यह 1885 ई0 में प्रकाशित लाला श्रीनिवासदास का चौथा नाटक है। चौरानवे पृष्ठों का यह नाटक सारसुधानिधि प्रेस कलकत्ता से प्रकाशित हुआ, जिसमें 11 पुरुष पात्र, 6 स्त्री पात्र और 5 अंक हैं। नाटक का घटना स्थल कन्नौज की स्वयंवर सभा है।

भारतेंदु युग में ऐतिहासिक घटनाओं को आधार बनाकर लिखे गए नाटकों में 'संयोगिता स्वयंवर' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कथानक का मूलाधार श्रीनिवासदास ने चंदबरदायी कृत पृथ्वीराज रासो और आत्माराम केशवजी द्विवेदी कृत 'पृथ्वीराज चउआण' से ग्रहण किया।

'संयोगिता स्वयंवर' का कथानक इस प्रकार है -- "पृथ्वीराज द्वारा नियोजित दूती कर्णाटकी संयोगिता के पास जाती है और उसे पृथ्वीराज की ओर आकृष्ट करने में सफलता प्राप्त करती है। फलतः स्वयंवर के समय पृथ्वीराज की स्वर्ण-प्रतिमा के गले में वरमाला डालकर वह अपना प्रेम प्रकट करती है। इसी समय चंद्रकवि के साथ वेष बनाकर पृथ्वीराज जयचंद सभा में आता है। कुछ समय बाद जयचंद उसे पहचान जाता है। जयचंद उसे पकड़ने के लिए सेना भेजता है, जिससे लांगरी राय युद्ध करते हैं। तदन्तर पृथ्वीराज जयचंद को परास्त करता है और संयोगिता को अपने साथ दिल्ली ले जाने की तैयारी करता है। पुत्री के साथ पृथ्वीराज के गान्धर्व-विवाह की सूचना पाकर जयचंद दान-दहेज देकर उन्हें ससम्मान विदा करता है।"³⁸

भारतेंदु युग में लिखे गए ऐतिहासिक नाटकों में 'संयोगिता स्वयंवर' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिन प्रमुख नाटकों का नाम इस श्रेणी में लिया जाता है उनमें भारतेंदु कृत 'नीलदेवी', श्रीनिवासदास कृत 'संयोगिता स्वयंवर', राधाचरण गोस्वामी कृत 'अमरसिंह राठौर' और राधाकृष्णदास कृत 'महाराणा प्रताप' हैं। इन नाटकों का मूल उद्देश्य जनमानस में अतीत के प्रति गौरव बोध को पुनरुज्जीवित करना था। हिन्दी गद्य को समृद्ध करने की दृष्टि से भी इनका प्रमुख योगदान है। लाला श्रीनिवासदास औपनिवेशिक भारत की गिरती मूल्यवत्ता के प्रति सचेत लेखक के रूप में उभरे, जिनके पात्र सत्य, न्याय, त्याग, आत्मनिर्णय और आत्मसम्मान के लिए मर-मिटने को तत्पर हैं। पात्रों की वीरता, प्रेम और सत्य संभाषण की प्रवृत्तियाँ प्रस्तुत नाटक में उभरकर सामने आयीं। श्रीनिवासदास जानते थे कि नाटक में दृश्य-श्रव्य दोनों माध्यमों की विशेषताएँ होती हैं। नाटक के पात्रों द्वारा कही गयी बातें, जनता के लिए अनुकरणीय होती हैं। यद्यपि उन्होंने ऐतिहासिक चरित्रों को इस नाटक में प्रस्तुत किया, तो भी उनका उद्देश्य इतिहास की पुनरावृत्ति मात्र नहीं है। संयोगिता द्वारा विवाह के संदर्भ में व्यक्तिगत चुनाव का निर्णय और उस निर्णय पर अटल रहना, पृथ्वीराज द्वारा पहले संयोगिता के मन में अनुराग (रूप-गुण वर्णन द्वारा) पैदा करना, तब संयोगिता का वरण करना, जयचंद के विरोध में वीरत्व का प्रदर्शन-ये सभी घटनाएँ कथानक को ऐतिहासिकता की सीमा से आगे बढ़ाकर आधुनिकता की भूमि पर ला खड़ा करती हैं। औपनिवेशिक भारत तभी आधुनिक हो सकता है -- जब उसमें आत्मसम्मान हो, निर्णय लेने की क्षमता हो -- श्रीनिवासदास ऐतिहासिक चरित्रों की प्रेमकथा, सिर्फ मनोरंजन के उद्देश्य से नहीं लिख रहे थे। भारतेंदु का नाट्यादर्श -- जिसका उद्देश्य था आम जनता में 'स्वचेतनता' पैदा करना श्रीनिवासदास बखूबी निभा रहे थे। 'तप्ता संवरण' जिसका प्रकाशन हरिश्चंद्र मैगज़ीन के दो अंकों में - 14 फरवरी तथा 15 मार्च सन् 1874 ई. को हुआ था -- उसकी भूमिका में 'तप्ता संवरण' की कथावस्तु के लोकोपकारी न होने

पर खेद प्रकट किया गया। इससे स्पष्ट है कि नैतिकता और लोकोपकारिता का उद्देश्य हमेशा उनके मन में रहा, जिससे प्रेरित होकर वे साहित्यरचना में प्रवृत्त हुए।

‘संयोगिता स्वयंवर’ नाटक ‘तप्ता संवरण’ की तरह प्रेम प्रधान होते हुए भी उससे अधिक सफल हुआ। पहले के नाटकों की उपेक्षा इसकी भाषा सरल और रंगमंच के अधिक उपयुक्त है। इसमें तीसरे अंक के पहले दृश्य में कवि चंद पृथ्वीराज के आगे भूषण का ‘इन्द्र जिमि जंभ पर’ कविव्र पढ़ते हैं, जिससे दर्शकों / श्रोताओं में वीर रस का संचार होता है। ‘भारतेंदु मंडल’ के लेखक ब्रजरत्नदास ने ‘संयोगिता स्वयंवर’ पर जो टिप्पणी की वह निम्नवत् है- “लाला जी की अंतिम रचना ‘संयोगिता स्वयंवर’ है और यह प्रथम बार सं. 1942 ई. में प्रकाशित हुई। इसमें प्रस्तावना तथा पाँच अंक हैं। प्रथम में तीन, चतुर्थ में एक तथा बाकी में दो-दो गर्भाङ्क हैं। एक सोरठा तथा तीन दोहों की नांदी के अनंतर प्रस्तावना में प्रथम गर्भाङ्क का आभास दिया जाता है। कथावस्तु इस प्रकार है कि राठौड़राज जयचंद की राजकुमारी संयोगिता ने जब पृथ्वीराज की स्वर्ण प्रतिमा के गले में जयमाल डाल दी और उसका प्रेम पूर्ण रूप से इन पर हो गया तब पहिले कर्णाटकी पृथ्वीराज के यहाँ से आकर संयोगिता के साथ रहने लगी। इसके अनंतर चंद कवि जयचंद के दरबार में आया, जिसके सेवक के छद्म में पृथ्वीराज भी साथ में था। जयचंद को कुछ शंका हुई और उसके निवारण के लिए उसने कर्णाटकी को बुलाया। परंतु शंका निवृत्त नहीं हुई। तब जयचंद ने पहिले कर्णाटकी को कुछ सामान सहित चंद के डेरे पर भेजा, जहाँ पृथ्वीराज व चंदबरदाई बातचीत कर रहे थे, और बाद में स्वयं भी पहुँचा। पृथ्वीराज को पहिचान कर लौटते ही जयचंद ने उसके डेरे को घेर लेने के लिए सेना भेज दिया और पृथ्वीराज ने लंगरीराय सर्दार को उसे रोकने को रवाना किया। इसी बीच पृथ्वीराज तथा संयोगिता में परिचय तथा मिलन हुआ। इसके बाद पृथ्वीराज जयचंद की सेना को परास्त कर संयोगिता को लिवा गया तथा गांधर्व-विवाह कर लिया। इस विवाह का पता पाकर जयचंद भी शांत हो गया और दान-दहेज देकर बिदा कर दिया।

संयोगिता-स्वयंवर की घटना लाला साहब के समय तक अनर्गल नहीं समझी जाती थी इसलिए उसे लेकर इस नाटक के लिखने के लिए उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। भाषा इसकी शुद्ध हिन्दी है पर नाटक भाषा तथा नाट्यकला दोनों की दृष्टि से शिथिल ही है। लाला जी कवि थे और इसमें दूसरों की कविता के साथ अपनी भी यत्र-तत्र दी है। इनका रचा एक पद इस प्रकार है -

रूप अनूप सबहि प्रिय लागै।

परम भयंकर प्राणी सिंहहु गिरिजा गिन अनुरागै।।

मुख को पूरन चंद्र सरिस लख मृग हठ संग न त्यागै।

जनकसुता सम रूप जान जिय वानर चरनन लागै।

कमला जान मत्त कुंजर गन चरन कमल रस पागै।।

भारतेंदु ने नाटकों के लेखन, प्रचार-प्रसार, अनुवाद के लिए स्वयं तथा मित्रों की ऊर्जा का उपयोग किया। उनकी दृष्टि में नाटक जनता में प्रचलित कुसंस्कारों को दूर करने का माध्यम बन सकते थे। भारतेंदु युग के अनेक लेखों, नाटकों की प्रस्तावनाओं में नाटक के प्रचार की आवश्यकता पर बल दिया गया। ‘संयोगिता स्वयंवर’ में भी नट और नटी का पारस्परिक संवाद इसी उद्देश्य से कराया गया है-

‘नट - नाटकों के अभिनय करने में चित्त बिनोद के सिवाय और क्या गुण है, और इसका प्रचार शिष्ट जनों में कब से पाया जाता है?’

सूत्रधार -

इसमें सबसे विशेष गुण तो ये प्रतीत होता है कि अभिनय कर्ता अपने चित्त पर उस चरित्र के प्रत्यक्ष देखने का सा अनुभव हो जाता है, बहुत प्राचीन काल से देवता स्वर्ग में इसका सुखानुभव करते आए हैं जैसे विक्रमोर्वशी में लक्ष्मी स्वयंवर वृत्तांत लिखा है और 'उत्तररामचरित्र' में तो श्री रामायण के अभिनय से साक्षात् सर्वेश्वर रामचंद्र जी के चित्त पर बड़े भारी असर होने का भाव दरसाया गया है।³⁹

* * *

पाद टिप्पणी

1. श्रीनिवास दास ग्रंथावली - पृ0 5 सं. श्रीकृष्णलाल नागरीप्रचारिणी सभा काशी
2. हिन्दी नाटक कोश - डॉ0 दशरथ ओझा, ने0 प0 हा0
3. भागवत - स्कंध-7, अध्याय 3-9, मत्स्यपुराण अध्याय 24, संक्षिप्त विष्णुपुराण गीताप्रेस पृ0 648-662
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचंद्र शुक्ल संस्करण-8, पृ0 462
5. हिन्दी नाटक कोश - डॉ0 दशरथ ओझा पृ0 324, दिल्ली, ने0 प0 हा0, प्रथम संस्करण 1975
6. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचंद्र शुक्ल पृ0 322
7. प्रह्लाद चरित नाटक पृ0 94
8. श्रीनिवासदास ग्रंथावली-सं0 श्रीकृष्णलाल पृ0 5
9. श्रीनिवासदास ग्रंथावली - श्रीकृष्णलाल, पृ.14
10. कविवचनसुधा, 97, अगस्त 1872, पृ.198
11. रणधीर और प्रेममोहिनी - निवेदन, पृ.2
12. वही
13. वही, पृ.9
14. वही
15. वही
16. श्री निवासदास ग्रंथावली - श्रीकृष्णलाल, पृ.19-20
17. रणधीर और प्रेममोहिनी - श्रीकृष्णलाल, निवेदन
18. ए रूम ऑफ़ वंस ओन - वर्ज़ीनिया वुल्फ
19. रणधीर और प्रेममोहिनी - श्रीनिवासदास ग्रंथावली पृ0 7
20. रणधीर और प्रेममोहिनी - श्रीनिवासदास ग्रंथावली पृ0 9
21. रणधीर और प्रेममोहिनी - श्रीनिवासदास ग्रंथावली पृ0 93
22. रणधीर और प्रेममोहिनी - श्रीनिवासदास ग्रंथावली पृ0 60
23. रणधीर और प्रेममोहिनी - श्रीनिवासदास ग्रंथावली पृ0 61
24. रणधीर और प्रेममोहिनी - श्रीनिवासदास ग्रंथावली पृ0 112
25. आधुनिक साहित्य और इतिहासबोध - नित्यानंद तिवारी पृ0 33
26. श्रीनिवासदास ग्रंथावली - रणधीर और प्रेममोहिनी सं0 श्रीकृष्णलाल पृ0 64
27. श्रीनिवासदास ग्रंथावली - रणधीर और प्रेममोहिनी सं0 श्रीकृष्णलाल पृ0 48
28. श्रीनिवासदास ग्रंथावली - रणधीर और प्रेममोहिनी सं0 श्रीकृष्णलाल पृ0 107
29. श्रीनिवासदास ग्रंथावली - रणधीर और प्रेममोहिनी सं0 श्रीकृष्णलाल पृ0 84
30. श्रीनिवासदास ग्रंथावली - पृ0 64 रणधीर और प्रेममोहिनी सं0 श्रीकृष्णलाल पृ0 116
31. श्रीनिवासदास ग्रंथावली - पृ0 64 रणधीर और प्रेममोहिनी सं0 श्रीकृष्णलाल पृ0 133
32. परीक्षागुरु, श्रीनिवासदास का जीवनचरित
33. रणधीर और प्रेममोहिनी - श्रीनिवासदास ग्रंथावली सं0 श्रीकृष्णलाल पृ0 45
34. रणधीर और प्रेममोहिनी - पृ0 22

35. Throughout the piece, the author maintains all the three utilities inviolate without giving it the unnatural appearance of plays of the artificial school in England. It is disfigured by no anachronisms and the beauty is marred nowhere by the introduction of heterogeneous elements. We are imperceptibly transported to the India of Prithi Raj and begin to dream of the chohan carrying off the princess of Kanauge : -- Indian Tribune -23, February 1978
36. श्रीनिवासदास ग्रंथावली सं० श्रीकृष्णलाल पृ० 8
37. हिन्दी नाटक कोश - डॉ० दशरथ ओझा पृ० 555
38. भारतेन्दु-मंडल - ब्रजरत्नदास, प्रथम सं. संवत् 2006 प्रकाशक - श्री कमलमणि ग्रंथमाला कार्यालय, सुडिया, काशी
- * ध्यातव्य है कि ब्रजरत्नदास जी ने पूरी पुस्तक में 'संयोगता' शब्द ही लिखा है अतः उद्धरण में भी संयोगिता की जगह 'संयोगता' ही रहने दिया गया है।
39. संयोगिता स्वयंवर - लाला श्रीनिवासदास पृ० 4

अध्याय-5 लाला श्रीनिवासदास की भाषा एवं शिल्प

श्रीनिवासदास की भाषा उनकी अभिव्यक्ति-सामर्थ्य के अलावा उनकी यथार्थवादी कला दृष्टि को भी प्रकट करती है। हिन्दी भाषा के इतिहास में लाला श्रीनिवासदास की भाषा अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है, लेकिन इतिहास की पुस्तकों में इसकी विशिष्ट चर्चा का अभाव दिखाई देता है। हिन्दी भाषा का जो रूप आज हमें दिखाई देता है, उसका निर्माण करने में श्रीनिवासदास और उनके समकालीन लेखकों का विशिष्ट अवदान है, जिसे विस्मृत नहीं किया जाना चाहिए। उनकी भाषा पर उन्नीसवीं सदी के नवजागरण का प्रभाव है।

लाला श्रीनिवासदास उस समय लिख रहे थे जब खड़ी बोली का गद्य साहित्यिक रूप लेने की प्रक्रिया में था। उनके नाटकों और उपन्यास की भाषा खड़ी बोली के उत्तरोत्तर विकसित, परिमार्जित होते रूप को प्रस्तुत करती है।

श्रीनिवासदास की भाषा हिन्दी है जिसके बारे में उन्होंने ‘रणधीर और प्रेममोहिनी’ की भूमिका में लिखा है -- “जिसे दिल्ली से बनारस के परे तक किराड़ो आदमी बोलने वाले हैं” लेकिन यह खड़ी बोली आज की परिमार्जित खड़ी बोली से अलग है। भाषा का यह रूप अनगढ़ है इसमें विविध संवेदनाओं और प्रसंगों से उत्पन्न होने वाले विविध कोण और रंगों का अभाव है। आज की खड़ी बोली से अलग श्रीनिवासदास की भाषा भारतेंदु युगीन भाषा का वह आदर्श प्रस्तुत करती है, जिसके अंतर्गत हिन्दी का यह दावा था इसमें जैसा बोला जाता है वैसा ही लिखा भी जाता है। इस सिद्धांत के अनुसार बोलचाल की भाषा को वैसे का वैसे लेखन में उतार दिया जाता था। उदाहरणार्थ सुन्ना (सुनना) जानना (जानना) ठैरना (ठहरना) उस्का (उसका) उत्रै (उन्होंने) इन्का (इनका) झर्ना (झरना) पहचान्ता (पहचानता) सक्ता (सकता) आदि को श्रीनिवासदास के लेखन में देखा जा सकता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने आगे चलकर जब व्याकरण सम्मत खड़ी बोली पर बल दिया तब लेखकों ने जानना, सुनना, सकता का प्रयोग आरंभ किया।”

श्रीनिवासदास की भाषा में दिल्ली में चलने वाली बांगरू बोली की सभी विशेषताएँ जैसे-बोलचाल की दृष्टि से स्वर लाघव, ने का सानुस्वार प्रयोग, में और से विभक्तियों का विशेष उच्चारण, शब्दों के स्थानीय प्रयोग, अरबी, फारसी और अंग्रेजी के शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति, पद्य का साहित्यिक ब्रजभाषा में अनूदित रूप तथा अंग्रेजी शब्दों का देशज उच्चारण, मिलती हैं।

इसके अतिरिक्त श्रीनिवासदास देशज और तद्भव तथा स्थानीय शब्दों का व्यापक प्रयोग करते हैं। भारतेंदु मंडल के प्रायः सभी लेखक देशज शब्दों का प्रयोग अपनी रचनाओं में करते दिखाई देते हैं, लेकिन इनमें से लाला श्रीनिवासदास का वैशिष्ट्य यह है कि उन्होंने कहीं तो किसी महाप्राण ध्वनि को अल्पप्राण कर दिया है, और कहीं अल्पप्राण ध्वनियों का महाप्राणीकरण कर दिया है। हाथ-हात, झूठा-झूटा, पिघलना-पिगलना, ढिठाई-ढिटाई, चिढ़-चिड़, बग्घी-बगगी। कहीं कहीं व्यंजनों का लोप भी हो गया है -- घबराहट-घबराट। वस्तुतः श्रीनिवासदास द्वारा “संस्कृत अथवा फारसी-अरबी के कठिन शब्दों की बनायी हुई भाषा के बदले दिल्ली के रहने वालों की साधारण बोलचाल पर ज्यादा दृष्टि रखी गई है। अलबत्ता जहां कुछ विद्या का विषय आ गया है वहां विवश होकर कुछ शब्द संस्कृत आदि के लेने पड़े हैं।” ‘परीक्षागुरु’ उपन्यास के निवेदन में लिखे ये शब्द श्रीनिवासदास की भाषा-चेतना पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। लालाजी भाषा को पाठकों तक सहज-संप्रेषित करना चाहते थे। सहज-संप्रेषण की इस प्रक्रिया में कुछ शब्दों के विचित्र प्रयोग भी

मिलते हैं -- जैसे - ये बातें मेरी राह में अच्छी हैं (पृ० 14) अच्छा? फिर आप खुलकर क्यों नहीं कहते आपके निकट लाला साहब को बहकाने वाला कौन-कौन है (पृ० 186) ऐसे जीतब पर धक्कार है (पृ० 84) वह समझवार होकर मेरी अन्समझ क्यों बन्ती हैं। (पृ० 395) दौड़ गए-दोड़ गए, नौ बजे - नो बजे, नौकर - नोकर, मैं - में, सै - से आदि प्रयोग भी विचित्र लगता है। बलायत, महन, महरबानी, रूपे, खातर, मोज आदि का प्रयोग वर्तमान खड़ी बोली के मानक रूप से अलग है। भाषिक प्रयुक्तियों की अशुद्धियाँ भी मिलती हैं जैसे - आधीन (अधीन) नीरोग (नैरोग्य) वाद विवाद (वादा विवाद) अज्ञान - (अज्ञानता) आदि।

वस्तुतः श्रीनिवासदास जिस समय लिख रहे थे उस समय के लेखक प्रायः ऐसी अशुद्धियाँ करते थे। भिन्न-भिन्न लेखक अपने-अपने व्यक्तिगत परिवेश के स्थानीय भाषिक प्रयोगों को खड़ी बोली में मिश्रित कर रहे थे। स्थान-स्थान के विभिन्न प्रकार के उच्चारणों के आधार पर लिखी गई खड़ी बोली में एकरूपता का पूरा अभाव था।

“श्रीनिवासदास ने दिल्ली में चलने वाले हरियाणवी किस्म के उच्चारण के मुताबिक शब्दों के हिज्जे लिखे हैं, यह बात इतनी उल्लेखनीय नहीं है। बात सिर्फ ऐसे शब्दों की भी नहीं है, जो आज हमारी हिन्दी से उठते जा रहे हैं। क्योंकि बहुत से शब्दों से जुड़ी चीज़ें भी सामाजिक चलन से उठ चुकी हैं। बात केवल उन शब्दों की भी नहीं है जिनका अर्थ अब बिल्कुल बदल चुका है - जैसे ‘दंगा’ ‘परीक्षा गुरु’ में इस शब्द का प्रयोग बच्चों की जिद और शैतानी के अर्थ में हुआ है - ‘दंगा करने से माँ अपने बालक को मारती है।’ (पृ.173) साहित्यिक दृष्टि से भी श्रीनिवासदास की भाषा कम आकर्षक नहीं है। एक वाक्य देखिए - “आपस में क्या मजे की बातें हो रही थीं, न जाने यह हत्या बीच में कहाँ से आ गई (पृ.39) ‘हत्या’ यानी अवांछित व्यक्ति का प्रवेश। लेकिन बात सिर्फ साहित्यिक व्यंजना की भी नहीं है। असली सवाल भाषा के स्वरूप का है जो 19 वीं सदी के अंतिम दशकों के मुकाबले में आज न सिर्फ इतना बदल गया है बल्कि भ्रष्ट और चरित्रहीन भी हो गया है।”¹

लाला श्रीनिवासदास पर अंग्रेजी नॉवेलों का प्रभाव था, जिसकी स्पष्ट छाप उनकी औपन्यासिक एवं नाटकीय भाषा पर दिखाई देती है। उनकी भाषा आडम्बर रहित है और दैनिक बोलचाल के नज़दीक है। भाषा के प्रति यथार्थवादी आग्रह ही उन्हें विशिष्ट लेखकों की श्रेणी में ला खड़ा करता है। वे जटिल और गहरे अनुभवों को भी ठेठ हिन्दी में बड़े ही यथार्थवादी ढंग से प्रस्तुत करते हैं - जैसे “उसने ऐसी लपेट से सवाल किए थे कि हाकिम को भारी न लगे और लेनदारों के चित्त में गढ़ जायें। यो ब्रजकिशोर की इतनी ही पकड़ से बहुत से लेनदारों के छक्के छूट गए।” (परीक्षा गुरु, पृ.197) अंग्रेज़ी गद्य के विराम चिन्हों का खूब प्रयोग उनपर अंग्रेजी नॉवेल के प्रभाव की गवाही देता है। पूर्ण विराम के लिए खड़ी पाई (1) के स्थान पर बिंदी (.) का प्रयोग अंग्रेजी गद्य के प्रभाव को सूचित करता है। यद्यपि उनके नाटकों विशेषकर ‘रणधीर और प्रेममोहिनी’ में पात्रानुसार भाषा में परिवर्तन का आयोजन दिखाई पड़ता है, लेकिन ‘परीक्षा गुरु’ में पात्रों के अनुरूप भाषा में बदलाव का कोई उल्लेखनीय प्रयत्न दिखाई नहीं पड़ता।

बोलचाल की भाषा पर बल देते हुए लाला श्रीनिवासदास ‘रणधीर और प्रेममोहिनी’ के निवेदन में लिखते हैं “हिन्दुस्थान में हिंदी, उर्दू, ब्रजभाषा, मारवाड़ी, मरहटी, गुजराती, बंगाली, पंजाबी, पूरबी, तैलंगी, तामिल, उड़िया, मैथिली आदि अनेक भाषा बोली जाती हैं और उनमें भी एक, एक भाषा के अनेक, अनेक भेद हो गए हैं। इनमें की बहुत भाषा संस्कृत बिगड़ कर बनी हैं परंतु अब इनमें ऐसा अंतर पड़ गया कि एक देश के रहने वाले दूसरे देश की भाषा नहीं समझते, फिर नाटक किस भाषा में लिखा जाय, सब भाषा मिलाकर तो लिखने सै रहे। दिल्ली सै बनारस के परे तक किरोड़ों आदमी हिंदी बोलने वाले हैं ...इसलिए

‘रणधीर और प्रेममोहिनी’ के नाटक की निज भाषा हिंदी रक्खी गई। इस देश में हिंदी के सिवाय कहीं उर्दू कहीं ब्रजभाषा और कहीं मारवाड़ी बोली जाती है। इस कारण नाटक में सुखबासी लाल (कारंदे) की भाषा उर्दू, निरंजन चौबे की बोली ब्रजभाषा और नाथूराम (सेठ) के बचन - मारवाड़ी बोली में लिखे गए हैं, परंतु इन इकट्ठी चार भाषाओं के समझने वाले भी इस देश में बहुत कम दिखाई देते हैं। उर्दू बोलने वाले ब्रजभाषा और मारवाड़ी सुनकर, ब्रजभाषा बोलनेवाले मारवाड़ी और उर्दू सुनकर मुँह देखते रहते हैं। उस कारण उर्दू, ब्रजभाषा और मारवाड़ी के कठिन वचनों का हिन्दी भाषा में तर्जुमा करके हर पत्रे के नीचे लिख दिया गया। अब नाटक करने वालों को अखतियार है कि सब नाटक हिन्दी भाषा में करें चाहे हिंदी, उर्दू, मारवाड़ी और ब्रजभाषा में करें। यद्यपि हिंदी भाषा दिल्ली से बनारस तक किरोड़ों आदमियों में बोली जाती है परंतु ये भाषा ऐसी अधूरी है कि संस्कृत वा फारसी की सहायता लिए बिना इसका काम नहीं चलता। इस भाषा के लिखने वालों में कितने ही संस्कृत और कितने ही फारसी की सहायता लेकर काम चलाते हैं परंतु ‘रणधीर और प्रेममोहिनी’ के नाटक में दोनों की तरफदारी छोड़कर साधारण बोलचाल पर बरताव किया गया।²

श्रीनिवासदास की भाषा पर, भारतेंदु युगीन खड़ी बोली के प्रारंभिक साहित्यिक रूप के प्रभाव के साथ-साथ औपनिवेशिक भारत में प्रचलित विदेशी भाषा भंडार और शैली का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। ‘परीक्षागुरु’ के माध्यम से औपन्यासिक शिल्प का प्रथम प्रयोग श्रीनिवासदास ने ही किया। दृश्य विधान, चित्रण और वार्तालाप की आधुनिक पद्धति को हिन्दी कथा साहित्य में लाने का श्रेय उन्हीं को है। “नाटक और उपन्यास के वार्तालाप के बीच का फर्क बताते हुए अपनी भूमिका में उन्होंने इन्वर्टेड कौमा के भीतर पात्रों के संवाद देने, हाइफन, कोलन और सेमी कोलन जैसे विभिन्न चिह्नों के प्रयोग और संवाद की पहली पंक्ति देने के बाद या बिल्कुल अंत में बोलने वाले का नाम बताने या ज़रूरत न होने पर बिना नाम दिये ही संवाद लिखने की आधुनिक उपन्यास पद्धति का वर्णन किया है। शुक्ल जी को इस पद्धति का विदेशीपन अखर गया। उन्होंने ‘परीक्षा गुरु’ का एक उद्धरण देकर लिखा है - “ऊपर के उद्धरण में अंग्रेज़ी उपन्यासों के ढंग पर भाषण के बीच में या अंत में ‘अमुक ने कहा’, ‘अमुक कहने लगे’, ध्यान देने योग्य हैं। खैरियत हुई कि इस प्रथा का अनुसरण हिन्दी उपन्यासों में नहीं हुआ।³ लेकिन नहीं, शुक्ल जी के इस विश्वास के विपरीत न सिर्फ उपरोक्त कथन पद्धति, बल्कि श्रीनिवासदास के उपन्यास लेखन की और भी कई बातें आज हिन्दी उपन्यासों-कहानियों में खूब प्रचलित हैं। यही श्रीनिवासदास का युगांतकारी महत्त्व है।”⁴

लाला श्रीनिवासदास की भाषा का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य है - उसका जन-जीवन के दैनंदिन क्रियाकलापों से जुड़ा होना। अपने निजी जीवन और व्यापारिक घराने से संपृक्ति के अनुभवों ने उन्हें एक बहुत ही सुलझी हुई दृष्टि और प्रवाहमान भाषा दी थी। इसके उदाहरण के रूप में ‘परीक्षा गुरु’ के कई संवाद देखे जा सकते हैं -

1. जो रकमें बही खाते में हिसाब पक्का करके लिखी जाने लायक होती हैं और तत्काल उनका हिसाब पक्का नहीं हो सकता वह रकमें हिसाब की सफाई होने तक इसी खाते में रहती हैं और सफाई होने पर जहाँ की तहाँ चली जाती हैं।⁵
2. जो तुमसे मेरी रकम न पटेगी तो मेरा कहाँ पता लगेगा (पृ.159)
लाला जी की भाषा में दिल्ली और पछाँह के मुहावरों का प्रयोग मिलता है। जैसे - “प्यारी आई जब तो तैनें बोलनें भी न दिया अब पल पल बरस की बराबर बीतै है कलताई कल कैसे पड़ेगी।”⁶

“मेरा मन इस समय ऐसा व्याकुल है जैसे जल बिन मीन देखिए चकोर को अमृत कब मिलता है।”
(वही, पृ.126)

“इस्में कुछ संदेह नहीं” हरकिशोर हुज्जत करने लगा।

“मैं ठेठ सै देखता आता हूँ कि आप मुझको देखकर जलते हैं, मेरी और मदनमोहन की मित्रता देखकर आपकी छाती पर साँप लालेटता है, आपने हमारा परस्पर बिगाड़ कराने के लिए कुछ थोड़े उपाय किये? मदनमोहन के पिता को थोड़ा भड़काया? जिस दिन मेरे लड़के की बारात मैं शहर के सब प्रतिष्ठित मनुष्य आए थे उनको देखकर आपके जी मैं कुछ थोड़ा दुख हुआ? शहर के सब प्रतिष्ठित मनुष्यों सै मेरा मेल देखकर आप नहीं कुढ़ते? आप मेरी तारीफ़ सुन्कर कभी अपने मन मैं प्रसन्न हुए? (परीक्षा गुरु, पृ.295-296)

उनकी भाषा में स्थानीय प्रयोग और उच्चारण का वैशिष्ट्य है, कहीं-कहीं पाठक को वह अखरता भी है, लेकिन खड़ी बोली गद्य के प्रारंभिक काल में जब कि वाक्य-विधान, विभक्तियों की स्थिति आदि का स्वरूप निश्चित न हो पाया था, परिपक्व भाषा की अपेक्षा करना लेखक के साथ ज्यादाती होगी। शब्द समूह की दृष्टि से देखा जाय तो श्रीनिवासदास की खड़ी बोली अत्यंत समृद्ध है। उसका प्रधान शब्द-समूह तत्सम, तद्भव तथा अरबी-फ़ारसी के शब्दों का है। अंग्रेजी भाषा के शब्दों का अनुवाद तथा मूलभाषा के शब्द को कोष्ठक में रखने का कार्य भारतेंदु समेत प्रायः सभी समकालीन लेखकों ने किया था। सभी प्रकार के शब्द राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक विषयों से संबंधित हैं।

भाषा के साथ-साथ लिपि की दृष्टि से भी श्रीनिवासदास की खड़ीबोली विशिष्ट है। स्वर तथा व्यंजन वर्णों के वैकल्पिक एवं प्रतिबंधित प्रयोग नागरीलिपि में मिलते हैं। प्राचीन स्वर-ध्वनियों में ‘ऋ’ के साथ ‘रि’ चिन्ह भी लिपि में वर्तमान हैं। ‘अ’ के अ अ अ वर्ण रूपांतर फ़, य़ व भी उनकी लिपि में मिलते हैं। फ़ का प्रयोग तद्भव तथा विदेशी शब्दों में तथा तत्सम और तद्भव शब्दों में प्रयुक्त किया गया है। इसीलिए पूर्णविराम सूचक खड़ीपाई के स्थान पर रोमन लिपि से प्रभावित बिंदु या वृत्त का प्रयोग श्रीनिवासदास का लिपिगत वैशिष्ट्य है जो वर्तमान नागरीलिपि में आजकल भी कहीं-कहीं व्यवहृत हो रहा है। श्रीनिवासदास की खड़ी बोली एवं वर्तमान खड़ीबोली में स्वर और व्यंजन ध्वनियों के पारस्परिक अंतर को हम इस प्रकार देख सकते हैं —

स्वर		व्यंजन	
श्रीनिवासदास की खड़ीबोली	वर्तमान खड़ीबोली	श्रीनिवासदास की खड़ीबोली	वर्तमान खड़ीबोली
इ, उ, आ, ए, ऐ	अ	ठ, त, र	ट
अ, ई, ए	इ	ट, स	ठ
अ, ऊ	उ	ड, ढ, र	ड़
अ, ए	आ	ढ	ढ़
अ, ई	ई	न	ण
इ, उ	ऊ	व	ब
अ, ए	ए	ज, व	य
ए	ऐ	य	र
ओ	औ	ब, व	व
औ	ओ	स	श
		श	स
		क, ख, ग, ज, फ	क्र, ख़, ग़, ज़, फ़

यह सत्य है कि आज के परिपेक्ष्य में लाला श्रीनिवासदास की भाषा अशुद्धियों से भरी हुई लगती है लेकिन फिर भी उस भाषा में कथ्य को वहन करने की पूर्ण क्षमता है। हिन्दी के सरल और प्रचलित शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग करके उसके तद्भवरूप को निखारने का प्रारंभिक कार्य भारतेंदु हरिश्चंद्र ने संपन्न किया था। जब उन्होंने लिखना शुरू किया था, तब वे अकेले थे, धीरे-धीरे नवजागरण से प्रभावित, भारत में औपनिवेशिक शासन के अंतर्विरोधों से परिचित एक लेखकीय मंडल उनके आसपास तैयार हुआ जिसमें राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट और बालमुकुंद गुप्त जैसी प्रतिभा के लेखक थे।⁷ ‘भारतेंदु ने नई चाल की हिन्दी के लिए संघर्ष किया और उन्हें अपने जीवन काल में ही इस संघर्ष में विजय मिली।’ भारतेंदु के इस महती प्रयत्न में लाला श्रीनिवासदास ने भी अपनी सीमाओं के भीतर अपनी प्रतिभानुरूप पर्याप्त योगदान दिया। आज की खड़ी बोली जिन सोपानों को पार करके अपने वर्तमान स्वरूप तक पहुँची है उसमें श्रीनिवासदास का योगदान अन्यतम है। उनकी भाषा हिन्दी की जड़ों की भाषा है, जिसमें “हमारी उस खोयी हुई अस्मिता के निशान हैं जिसे हमने पुनर्जागरण काल में उपलब्ध करने का प्रयास किया था।”

* * *

पाद टिप्पणी

1. राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य : कुछ प्रसंग कुछ प्रवृत्तियाँ - वीरभारत तलवार, पृष्ठ सं.7
2. श्रीनिवासदास ग्रंथावली - निवेदन - रणधीर और प्रेममोहिनी, पृ.10, सं. श्रीकृष्णलाल
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचंद्र शुक्ल, पृ.323
4. राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य : कुछ प्रसंग कुछ प्रवृत्तियाँ - वीरभारत तलवार, पृष्ठ सं.14
5. परीक्षा गुरु - लाला श्रीनिवासदास, पृ.195
6. तप्ता संवरण, प्रथम अंक, पृ.125, (हरिश्चंद्र मैगज़ीन, फरवरी 15, 1874)
7. भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ - रामविलास शर्मा, पृ.151, राजकमल प्रकाशन, छठा संस्करण, 2004

उपसंहार

भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनके सहयोगी लेखक एक निश्चित योजना के अनुसार राष्ट्र के सांस्कृतिक पुनरूत्थान, आर्थिक नवनिर्माण और राजनीतिक स्वातंत्र्य की उद्दाम कामना से प्रेरित होकर साहित्य-रचना में प्रवृत्त हुए थे। भारतेंदु युगीन लेखकों में, श्रीनिवासदास अपने महत्वपूर्ण साहित्यिक योगदान के लिए विशिष्ट हैं। कुशल व्यापारिक बुद्धि, देशानुरागिता, विवेक दृष्टि, प्रबंधपटु और अनुभवी व्यक्तित्व के स्वामी श्रीनिवासदास ने चार नाटकों और एक उपन्यास की रचना की। 'परीक्षागुरु' उपन्यास उनकी अक्षय कार्ति का आधारस्तंभ है। भारतेंदु ने राष्ट्रीय नवजागरण की जिस चेतना से प्रदीप्त होकर साहित्य की भाषा के रूप में खड़ी बोली को अपनाया था, उसी का प्रभाव उनके समकालीनों, सहयोगी लेखकों पर पड़ा। उत्कृष्ट कोटि का गद्य लिखने की प्रेरणा भारतेंदु ने मित्रों, लेखकों को दी। भारतेंदु के युग में औपन्यासिक गद्य की दो परंपराएँ समानान्तर चलती दिखाई देती हैं -- एक परंपरा तो वो जिसे औपन्यासिक गद्य की पूर्वी परंपरा कह सकते हैं, जिसमें तद्भव शब्दों के साथ-साथ सुपरिचित तत्सम शब्दों, ललित पदों से युक्त वाक्यों और सर्जनात्मक भाषा की प्रधानता है, जिसका प्रवर्तन स्वयं भारतेंदु ने किया। इसका विकास बालकृष्ण भट्ट और राधाकृष्ण दास की रचनाओं में देखा जा सकता है। गद्य की दूसरी परंपरा जिसमें बोलचाल की भाषा को ही कुछ साहित्यिक रूप देकर अपनाया गया-जिसका विकास श्रीनिवासदास की रचनाओं में देखा जा सकता है। यद्यपि लालाजी ने कहीं-कहीं वर्णनों और संवादों को साहित्यिक रूप देने का प्रयास किया है तो भी सपाटता और सरलता, छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग उनकी भाषा को दिल्ली के आसपास बोली जाने वाली भाषा ने नज़दीक ही रखता है।

लाला श्रीनिवासदास विविध विषयों और भाषाओं के अच्छे जानकार थे। उनमें युगीन यथार्थ को देखने की आलोचनात्मक दृष्टि थी। अपनी रचनाओं में औपनिवेशिक शासन की प्रत्यक्ष आलोचना न करके भी ब्रिटिश राज के प्रति मोहभंग की अभिव्यक्ति उन्होंने की। उनकी रचनाओं में देश और समाज के प्रति नैतिक मूल्यवादी आग्रह स्पष्ट झलकता है। देशानुराग और साहित्यानुराग इनके व्यक्तित्व को उज्ज्वल बनाते थे। वे यथासंभव अर्थ का उपयोग हिन्दी की उन्नति के लिए करते थे। साहित्य रचना के अतिरिक्त उन्होंने 'सदादर्श' पत्रिका का संपादन भी किया। तत्कालीन सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में इनके लेख प्रकाशित होते थे।

गद्यकाव्य मीमांसा में अंबिकादत्त व्यास ने जिन 76 उपन्यासों का विवरण दिया है, उसके अनुसार श्रीनिवासदास रचित 'परीक्षागुरु' ही हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास ठहरता है। 'परीक्षागुरु' शिल्प और कथ्य की नवीनता लेकर हिन्दी जगत में आया। यह हिन्दी में सामाजिक चेतना को लेकर लिखा गया प्रथम उपन्यास है। "यह हिन्दी का पहला उपन्यास है जिसमें अंगरेज बनियों के चरित्र को पोल खोली गई है।" यह उपन्यास औपनिवेशिक भारत में भारतीय विशेषकर वणिक समाज की यथार्थ तस्वीर पेश करता है। श्रीनिवासदास उन समस्त कारणों और परिस्थितियों का विश्लेषण करते हैं, जिनके कारण भारतीय व्यापार का सर्वनाश हो रहा था। परंपरा से प्रचलित विचारों मात्र से हिन्दी के पहले मौलिक उपन्यास की रचना संभव नहीं थी। औपनिवेशिक जीवन की परिस्थितियों का असर भारतीय जनमानस पर पड़ रहा था। सांस्कृतिक अभियंतन तथा संस्थागत आचार-व्यवहारों के सहारे समाज में शिक्षा की अवधारणा घर करने लगी थी, जिसमें अंग्रेजी शिक्षा का विशेष महत्त्व था, इस व्यवहार के फलस्वरूप एक नए सांस्कृतिक विश्व के द्वार

भारतीयों के समक्ष खुले, जिसका केंद्र औपनिवेशिक-शक्ति के महानगर में था और महानगर ने उपनिवेश के लोगों में दासता और परावलंबन की मानसिकता की सृष्टि की। साथ ही उनके आदर्श का स्रोत ब्रिटिश जीवन शैली बन गयी। श्रीनिवासदास ने 'परीक्षागुरु' में इसी परावलंबन की मानसिकता तथा सांस्कृतिक दासता को आधार रूप में ग्रहण किया।

हिन्दी में 'परीक्षागुरु' को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने पहला मौलिक उपन्यास माना। बाबू श्यामसुंदर दास के प्रधान संपादकत्व में 1929 ई0 में प्रकाशित हिन्दी शब्दसागर की प्रस्तावना में रामचंद्र शुक्ल ने कहा था - "अंग्रेजी ढंग का मौलिक उपन्यास पहले-पहल लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षागुरु' ही निकला था।" उन्होंने यही बात हिन्दी साहित्य के इतिहास में भी दोहराई।

हिन्दी का पहला उपन्यास 'परीक्षागुरु' को क्यों माना जाए - यह विवाद का विषय था। 'परीक्षागुरु' की प्रकाशन तिथि के बारे में बहुत दिनों तक भ्रम बना रहा। डॉ0 लक्ष्मीसागर वाष्ण्य के अनुसार 'परीक्षागुरु' का द्वितीय संस्करण 1882 ई0 में प्रकाशित हुआ। लेकिन 'परीक्षागुरु' का प्रथम संस्करण सदादर्श प्रेस दिल्ली में मुद्रित होकर 1882 में प्रकाशित हुआ। बालकृष्ण भट्ट ने इसकी आलोचना हिन्दी प्रदीप में लिखी थी जिसमें कहा गया - "हिन्दी में अब तक कोई उत्तम उपन्यास नहीं छपे इसलिए यह अवश्य उत्तमोत्तम है।"

स्वयं श्रीनिवासदास ने 'परीक्षागुरु' की भूमिका में लिखा - अब तक नागरी और उर्दू भाषा में अनेक तरह की अच्छी-अच्छी पुस्तकें तैयार हो चुकी हैं, परंतु मेरे जान इस रीति से कोई नहीं लिखी गई, इसलिए अपनी भाषा में यह नई चाल की पुस्तक होगी।"

श्रीनिवासदास ग्रंथावली के संपादक श्रीकृष्णलाल का कहना है - "इससे पूर्व जो उपन्यास लिखे जाते थे वे पुरानी कहानियों के अनुरूप "एक था राजा और उसकी थीं कई रानियाँ" आदि से प्रारंभ होता था, परंतु 'परीक्षागुरु' का प्रारंभ बड़े ही सुंदर नाटकीय ढंग से एक अंगरेजी सौदागर की दूकान में एकत्र हुए तीन मित्रों के साथ लाला मदनमोहन द्वारा काच की जोड़ी का सौदा करते हुए हुआ है। इस नाटकीयता के प्रवेश से उपन्यास में एक अपूर्वता आ गई है। अपनी इसी, नाटकीयता के कारण यह 'रणधीर और प्रेममोहिनी' का सहोदर कहा गया। यह अपूर्वता और नवीनता लेखक ने अंगरेजी से ली थी और अपनी इस नवीनता के कारण यह उपन्यास अपने युग की सभी रचनाओं से विशिष्ट है। परीक्षागुरु के बाद भी अनेक उपन्यास लिखे गए, परंतु प्रेमचंद से पहले 'परीक्षागुरु' जैसी विशिष्ट रचना हिन्दी में दूसरी नहीं थी।"²

'परीक्षागुरु' के प्रकाशन से पहले देवरानी-जेठानी की कहानी (पंडित गौरीदत्त; प्रकाशन 1870 ई0) वामा शिक्षक (मुंशी ईश्वरी प्रसाद और मुंशी कल्याण राय प्रकाशन 1872 ई0) तथा भाग्यवती (श्रद्धाराम फिल्लौरी; लेखन 1877; प्रकाशन 1887 ई0) जैसे उपन्यासों के अस्तित्व के आधार पर इसे हिन्दी का पहला उपन्यास मानने पर विद्वानों में विवाद है। इनमें से 'देवरानी जेठानी की कहानी' की रचना उपन्यास के रूप में नहीं बल्कि बालिकाओं के लिए उपयोगी पाठ्य पुस्तक के रूप में हुई थी। इसकी भूमिका में ही पंडित गौरीदत्त ने लिखा - "स्त्रियों के पढ़ने-पढ़ाने के लिए जितनी पुस्तकें लिखी गई हैं सब अपने-अपने ढंग और रीति से अच्छी हैं परंतु मैंने इस कहानी को नए रंग-ढंग से लिखा है।"

स्पष्ट है कि पंडित गौरीदत्त तबतक उपन्यास संज्ञा से परिचित नहीं थे। उन्होंने निश्चित ही अंगरेज़ी और बंगला से प्रेरणा ग्रहण करने का अवसर नहीं पाया। पं0 गौरीदत्त की इस पुस्तक को सरकारी अनुदान भी मिला। 'देवरानी जेठानी की कहानी' का प्रकाशन 1870 ई0 में मेरठ के जियाई छापाखाना से हुआ। इसके बाद 1872 ई0 मुंशी ईश्वरी प्रसाद और मुंशी कल्याण राय के संयुक्त लेखन में 'वामा शिक्षक' की रचना हुई

जो प्रथम बार 1883 ई0 में विद्यादर्पण छापाखाना, मेरठ से मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ। 'वामा शिक्षक' की भूमिका में कहा गया - "इन दिनों मुसलमानों की लड़कियों के पढ़ने के लिए तो एक-दो पुस्तकें जैसे मिरातुल उरुस आदि बन गयी हैं, परंतु हिन्दुओं व आर्यों की लड़कियों के लिए अब तक कोई ऐसी पुस्तक देखने में नहीं आई है..."³ यह पुस्तक भी स्त्री-शिक्षा के मदेनजर ही लिखी गयी थी। इसका प्रकाशन 'परीक्षागुरु' के एक वर्ष बाद हुआ।

'भाग्यवती' की रचना का उद्देश्य भारतीय महिलाओं में नवजागरण उत्पन्न करना था। इसके मुखपृष्ठ पर लिखा था - "स्त्री शिक्षा की अपूर्व पुस्तक और स्वेदशीय बालिकाओं के उपकारार्थ।" लेखन काल की दृष्टि से यह 'परीक्षागुरु' के पहले का है। 'बिहार बंधु' (साप्ताहिक पत्र) में इसकी जो समीक्षा 19 मई 1887 ई0 को छपी थी उसमें कहा गया - "भाग्यवती। यह पुस्तक स्त्री शिक्षा के लिए बहुत अच्छी बनी है। इसमें 40 विषय हैं। सब गृहस्थों को एक बार इसे देखना चाहिए..."

उल्लिखित तीनों ही कृतियों को उनके लेखक ने 'उपन्यास' की संज्ञा नहीं दी। सन् 1877 तक हिन्दी में उपन्यास पद का प्रयोग प्रचलन में भी नहीं था। संभवतः दिल्ली और आसपास के हिन्दी लेखक बंगला के 'उपन्यास' पद के प्रयोग से अभी तक अपरिचित थे। हिन्दी में 'नावेल' और 'उपन्यास' शब्दों का सर्वप्रथम प्रयोग भारतेन्दु ने ही किया। 'हरिश्चंद्र मैगज़ीन' के प्रथम अंक अर्थात् अक्टूबर 1873 ई. के आवरण पृष्ठ पर अंग्रेज़ी का नावेल शब्द रोमनलिपि में प्रयुक्त हुआ था। हरिश्चंद्र मैगज़ीन का आवरण पृष्ठ अंग्रेज़ी भाषा और रोमन लिपि में ही होता था - "October, 1873 No.1, Volume 1, Harishchandra Magazine a Monthly Journal, Published in connection with the kavivachan Sudha, containing Articles on literary, scientific, political and religious subjects Antiquities, Reviews, Dramas, History, Novels, Poetic selections, Gossip, Humour and wit, edited by HARISH CHANDRA" इसके पहले किसी भी हिन्दी पत्रिका या पुस्तक में उपन्यास के अर्थ में 'Novel' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया था। इसके बाद मासिक पत्र हरिश्चंद्र चंद्रिका ; फरवरी 1875 (खंड 2 सं 5) पृष्ठ संख्या 152 पर 'उपन्यास' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग हिन्दी में मिलता है।⁴ 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' के इस अंक से भारतेन्दु ने अपने अपूर्ण उपन्यास 'मालती' का प्रकाशन आरंभ किया था और शीर्षक के नीचे कोष्ठक में 'उपन्यास' शब्द छोटे टाइप में लिखा गया था।⁵ इसके बाद बिहार बंधु 9 फरवरी, बुधवार 1878 ई0 में 'चीठी पत्री' स्तंभ के अंतर्गत केशवराम भट्ट द्वारा अनूदित उपन्यास 'एक जोड़ी अंगूठी' का प्रकाशन शुरू हुआ था जिसे 'उपन्यास याने किस्सा' कहा गया था। अर्थात् तत्कालीन लेखक-पाठक उपन्यास को किस्सा मानते थे। इसके बाद 1880 में केशव राम भट्ट का मौलिक यथार्थवादी उपन्यास 'सुन्दर' बिहार बंधु हिन्दी साप्ताहिक पत्र में धारावाहिक रूप में प्रकाशित होना शुरू हुआ लेकिन, दस अध्यायों के बाद इसका प्रकाशन रूक गया।⁶ यह अपूर्ण ही रहा। स्पष्ट है कि हिन्दी के इन अति आरंभिक उपन्यासों में 'उपन्यास' पद के स्पष्ट तात्पर्य से अपरिचिति है। लेकिन इतना तय है कि हिन्दी के ये आरंभिक कथा लेखक जाने अनजाने उपन्यास रचना की दिशा में अग्रसर हो रहे थे, जिसकी ठोस परिणति दिल्ली के ही निवासी लाला श्रीनिवासदास के उपन्यास 'परीक्षागुरु' 1882 में हुई।

'परीक्षागुरु' को अंग्रेज़ी नॉवेल की तर्ज़ पर लिखा हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास कहा गया क्योंकि अंग्रेज़ी नॉवेल के चरित्र-चित्रण, शिल्प का प्रभाव पहली बार किसी कथाकार ने ग्रहण किया। अंग्रेज़ी नॉवेल की संवाद शैली, कथानक के घुमाव, कथा में कुछ रहस्य की सृष्टि के वैदेशिक तत्त्वों के साथ भारतीय परिवेश, नितांत भारतीय चरित्रों का भारतीय नगरीय परिस्थितियों में विकास, उपदेशात्मकता आदि

भारतीय तत्त्वों का सम्मिलन, एक मौलिक काल्पनिक किंतु यथार्थ कथा के माध्यम से प्रस्तुतीकरण की नई शैली ने हिन्दी पाठकों को प्रभावित किया। ‘परीक्षागुरु’ से पहले हिन्दी पाठक सिलसिलेवार कथाएँ पढ़ने का अभ्यस्त था। ज्यादातर कथाएँ नायक-नायिका के जन्म से विवाह या मृत्यु तक चलती थीं। कथानक में घुमाव-फिराव का अभाव पाठकों के सामने एक सरल एकरैखीय कथा प्रस्तुत करता था। श्रीनिवासदास ने पहली बार सिलसिलेवार कथा-शैली को तोड़ा। उन्होंने कथाप्रस्तुति की “नाटकीय प्रविधि को अपनाया जिसमें समयानुक्रम को उलट कर या उसे स्थगित कर दृश्यनिर्माण और पात्रों के वार्तालाप द्वारा कथा आगे बढ़ाई जाती है और इससे जिस रहस्य का सृजन होता है उसका समाधान अन्त में कथाकार के सीधे हस्तक्षेप से होता है।”⁷

श्रीनिवासदास ने ‘परीक्षागुरु’ के माध्यम से एक नवीन शिल्प की अभिव्यक्ति की। ठेठ किस्सागोई के स्थान पर दृश्य-विधान चित्रण और वार्तालाप की आधुनिक पद्धति को हिन्दी कथा साहित्य में लाने का श्रेय श्रीनिवासदास को ही जाता है। नाटक और उपन्यास के वार्तालाप के बीच का फर्क बताते हुए उन्होंने हिन्दी में पहली बार इन्वर्टेड कॉमा में पात्रों के संवाद देने, हाइफन, कोलन और सेमी कोलन जैसे विभिन्न चिन्हों के प्रयोग और संवाद की पहली पंक्ति देने के बाद या बिल्कुल अंत में बोलने वाले का नाम दिये ही संवाद लिखने की आधुनिक पद्धति का वर्णन किया है। आगे चलकर उपन्यास लेखन की इन पद्धतियों का प्रयोग हिन्दी में बहुत हुआ और हो रहा है। यह श्रीनिवासदास का युगांतकारी महत्त्व है।

हिन्दी के शैशव काल में श्रीनिवासदास की यथार्थवादी कला दृष्टि और भाषा की अभिव्यक्ति सामर्थ्य का महत्त्व आँका जाना भी बाकी है। उन्होंने जटिल और गहरे अनुभवों को भी ठेठ हिन्दी में बड़ी स्वच्छंदता के साथ प्रकट किया है। जनपदीय प्रयोगों के सही और सटीक उदाहरण श्रीनिवासदास के लेखन में मिलते हैं जिससे कोई भी भाषा जीवंत बनती है।” श्रीनिवासदास की भाषा हिन्दी प्रदेशों के उस पुनर्जागरण का पता देती है जब हम अपनी अस्मिता को अपनी भाषा में मूर्त कर रहे थे। आज हम उस भाषा से ही दूर नहीं हुए अपनी अस्मिता से भी दूर हुए हैं।”⁸ (वीरभारत तलवार, पृ.8)

समकालीन यथार्थ और औपनिवेशिक भारत की सच्ची तस्वीर प्रस्तुत करने वाले इस उपन्यास ने परवर्ती उपन्यासों के लिए सुदृढ़ आधारभूमि तैयार की। इसने भारतीय मध्यवर्ग के सामने एक ओर पश्चिम का सांस्कृतिक संसार ला खड़ा किया तो दूसरी ओर अपनी दुर्बलताओं-सबलताओं को पश्चिम के आइने में रखकर देखने का अवसर दिया। ‘परीक्षागुरु’ जीवन की प्रामाणिकता का भारतीय विमर्श, ऐसे समय में सामने लेकर आया जब भारतीय अस्मिता की पहचान एक मूलवर्ती चिंता के रूप में भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग को उद्वेलित कर रही थी। आधुनिक उपन्यास के सभी गुणों के न होते हुए भी आगामी साहित्य के वैचारिक विमर्श की भूमिका से ‘परीक्षागुरु’ लैस है। समाज-सुधार को साहित्य का प्रमुख प्रयोजन मानते हुए श्रीनिवासदास ने स्वदेशी, स्वातंत्र्य भाव तथा आमदनी और खर्च के अनुपात पर विचार किया, जिनसे प्रामाणिक जीवन जिया जा सकता है। सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति कर, प्रेमचंद को उपन्यास लेखन की ठोस जमीन देने वाले लेखकों में श्रीनिवासदास का नाम प्रमुख है, भले ही उनमें बंकिमचंद्र जैसी प्रतिभा न हो फिर भी उन्होंने अपनी सीमाओं में अपने समय को पढ़ने और अभिव्यक्त करने का प्रामाणिक प्रयास किया।

* * *

पाद टिप्पणी

1. हिन्दी उपन्यास का इतिहास - गोपाल राय पृ0 54
2. श्रीनिवास ग्रंथावली - सं0 श्रीकृष्णलाल पृ0 44
3. वामा शिक्षक - भूमिका 1883 (संस्करण-प्रथम) विद्यादर्पण छापाखाना, मेरठ
4. हरिश्चंद्र चंद्रिका, फरवरी 1875 ई0 (खंड 2 संख्या 5) पृ0 152
5. हरिश्चंद्र चंद्रिका - संपादन - भारतेन्दु हरिश्चंद्र फरवरी 1875 (खंड 2 सं 5) पृ0 सं0 152-157
और मार्च 1875 (खंड 2 सं 6) पृ0 सं0 182-183
6. बिहारबंधु हिन्दी साप्ताहिक पत्र (पटना) में 9 सितंबर बृहस्पतिवार 1880 से 9 दिसंबर (बृहस्पतिवार) 1880 तक 'सुंदर' उपन्यास का धारावाहिक प्रकाशन हुआ।
7. हिन्दी उपन्यास का इतिहास - गोपाल राय पृ0 सं0 49
8. राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य : कुछ प्रसंग कुछ प्रवृत्तियाँ - वीरभारत तलवार का लेख
शीर्षक : देशोन्नति का अर्थ : हिन्दी उपन्यास का आरंभ, पृ.17

परिशिष्ट - 1 रणधीर प्रेममोहिनी

संकेत

इस देश में नाटक का प्रचार बहुत कम है और नाटक में ऐसे अनेक संकेत आते हैं जो साधारण बाचने की पुस्तकों में नहीं होते; इस कारण नाटक करने और पढ़ने वालों की सुगमता (आसानी) के लिए उन संकेतों का कुछ मतलब यहाँ लिखा जाता है :

आदि में किसी मनुष्य के नाम से आगे ऐसा चिन्ह हो तो इस चिन्ह से अगले बचन को उस मनुष्य का वचन समझना और ये - चिन्ह बीच में आ जाय तो यहाँ रुक कर पढ़ना। इसी तरह दो, तीन जगह एक, एक अक्षर के बीच में ये - चिन्ह आ जाय तो वहाँ बोलते, बोलते ऐसे रुक जाना जैसे कोई बात कहते, कहते किसी कारण से अचानक रुक जाता है।

जो बात () गोलाकार के भीतर लिखी गई वो किसी नाटककार की तरफ से कहने की नहीं है किन्तु नाटक करने और पढ़ने वालों को समझाने के लिए ग्रंथकार की तरफ से है। जहाँ इस रीति से (मन मैं) लिखा हो उसके अगले वचन को नाटककार इस ढब से कहै कि मानों अपने मन मैं कह रहा है जहाँ (मन मैं) अथवा (प्रगट) कुछ न लिखा हो उस वचन को भी प्रगट मैं कहने का ही समझै। जहाँ इस रीति से (गया) अथवा (आया) लिखा हो वहाँ उस नाटक पात्र का रंगभूमि से नेपथ्य में जाना अथवा नेपथ्य से रंगभूमि में आना समझै; जहाँ इस तरह से (नेपथ्य मैं शब्द हुआ) लिखा है वहाँ परदे के भीतर की आवाज़ जानो, जहाँ इस रीति से बैठना, उठना, हँसना, रोना आदि लिखा है वहाँ नाटक पात्र को उसी तरह का भाव दिखाना चाहिये और जहाँ इन बातों के सिवाय किसी बचन के बीच में गोलाकार के भीतर और कोई शब्द आ जाय तो उसको पहले शब्द का अर्थ समझना जैसे ऊपर “सुगमता” के आगे गोलाकार में “आसानी” लिखी गई है।

और चिन्हों में ऐसा, (कोमा) किंचित विश्राम, ऐसा; (सिमीकोलन) अथवा ऐसा : (कोलन) अर्थ विश्राम; ऐसा . (फुलिस्टोप) पूर्ण विराम, ऐसा ? (इंट्रोगेशन) प्रश्न की जगह, ऐसा ! (एक्सक्लमेशन) आश्चर्य अथवा संबोधन वगैरे के जो शब्द जोर देकर बोलने चाहिये उनके आगे और ऐसे “ ” (इनवर्टेड कोमा) दूसरी पुस्तक के लिखे हुए, अथवा दूसरे के कहे हुए वचन पर उसको अलग दिखाने के लिए लगाए जाते हैं।

रंगभूमि, नाटक अथवा तमाशे होने की जगह, जवनिका, रंगभूमि में स्थान का रूप दिखाने वाला परदा और नेपथ्य जवनिका से पीछे रूप बने वगैरे की जगह को कहते हैं।

- - - - -

प्यारे, सदादर्श सम्मिलित क.व.सुधा (१) के पढ़ने वाले !

जब मैं सदादर्श अपनी जन्मभूमि छोड़कर काशी वास करने चला गया अथवा यों कहो कि सदादर्शनै कवि वचन सुधा से मिल कर काशी को प्रयाग बना दिया तब मैं आप लोगों का वियोग मेरे मन को बेचैन करता था, आपसे मिलने को हर घड़ी जो भटकता था पर खाली हात जाना अनुचित मालूम हुआ इस कारण ये “रणधीर और प्रेममोहिनी” का नाटक आपके पास लाया हूँ यदि इसके देखने से “सदादर्श सम्मिलित क. व. सुधा” में आप की कुछ प्रीति बढ़ेगी तो मैं ईश्वर की कृपा से अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

सदादर्श का प्रथम सम्पादक
श्री निवास दास

(१) कवि वचन सुधा - भारतेंदु बाबूहरिश्चंद्र द्वारा स्थापित पत्रिका

नाटक के पात्रों के नाम।

पुरुष

रणधीर सिंह - नायक
रिपुदमन - रणधीरसिंह का मित्र
सोमदत्त - रणधीरसिंह का पंडित
सुखबासी लाल - रणधीरसिंह का कारिंदा
नाथूराम - रणधीरसिंह का मोदी
निरंजन चौबे - विदूषक
जीवन - रणधीरसिंह का सेवक
सूरत के महाराज अथवा सूरतपति
पाटन के महाराज अथवा पाटनपति

स्त्री

प्रेममोहिनी - नायिका
मालती - प्रेममोहिनी की सखी
चंपा - प्रेममोहिनी की सखी
सरोजिनी - वेश्या।

अनेक राजा, सूरत का मंत्री, पाटन का मंत्री, सूरत का सेनापति,
पाटन का सेनापति, सेना, और सेवक आदि।
नगर सूरत।

‘रणधीर और प्रेममोहिनी’ तृतीय अंक प्रथम गर्भाङ्क

प्रेममोहिनी (मुस्कराती हुई, लाज से नीची आँख करके) प्यारे प्राणनाथ! मुझको अपने प्रिय मित्र के नाम एक प्रेम-पत्रिका लिखानी है, आपको अवकाश हो तो कृपा करके लिख दीजिए, आप सा चतुर लिखने वाला मुझे कहाँ मिलेगा?

रणधीर (अचरज से, मन में) इसने ये कैसी आश्चर्य की बात कही मैं इसकी मीठी बातों में आकर उगा तो नहीं गया? घड़ी भर पहले ये मेरे वियोग से शरीर छोड़ती थी, अब ये मुझसे अपने मित्र के नाम चिट्ठी लिखाती है। ईश्वर जाने इसकी बातों में क्या क्या भेद होगा। (प्रगट) अच्छा तुम अपना प्रयोजन बता दो।

प्रेम - प्रेम स्वाभाविक प्रेम, सच्चा प्रेम, अचल प्रेम और कुछ नहीं।

रण. - हमको तुम्हारी तरह प्रेम जताना नहीं आता, पर तुम्हारे लिये पुस्तकों के बल से कुछ लिखते हैं। (प्रेममोहिनी ने दवात कलम कागल ला दिया)

रण. - (लिखकर) सुनो -

“प्रेम जाल की वर्षा से प्यासे पपहिये की प्यास हरने वाले जलधर, प्रेम-प्रफुल्लित पुष्पों की सुगंध से संसार को सुगंधित करनेवाला तरुवर, प्रेम-भूमि में वियोग की वायु झेलकर अचल रहनेवाले भूधर प्रेम-पियूष के सिंचने से मुरझाई लता को हरे करनेवाले हिमकर! आपका चंद्रमुख निहारने की मेरे नयन-चकोरों को बान पड़ गई है, इस कारण पल भर के वियोग से ये व्याकुल हो जाते हैं, आपको ऐसा चुम्बक कहाँ मिला जिसके बल से आप दूर बैठकर मेरा मन खँचते हो। कोई प्राणी बंधन में रहने से प्रसन्न नहीं होता पर मैं आपके प्रीति-जाल में प्रसन्न हूँ आपने ये विद्या कहाँ सीखी? जो हमको सिखा दो तो हम भी आपके ऊपर आजमायें संसार के विष वृक्ष में एक प्रीति ही अमृत फल है। संसार-सागर के पैरने वालों में थके हुआँ को एक प्रीति ही सहारा देने वाली नौका है। संसार की पुष्प-वाटिका में ये ही सज्जनों के सुगंध लेने लायक हैं। बहुत क्या लिखें विचार कर देखो तो संसार के सब कामों का ये ही मूल कारण ठैरता है।”

- प्रेम - आपने मेरे कहने से इतना श्रम किया, इसलिए मैं आपका बहुत उपकार मानती हूँ।
रण - मैं तुम्हारे मित्र को नहीं जानता, इस कारण ये चिट्ठी अच्छी तरह नहीं लिखी गई।
प्रेम - आप ऐसी बात मत कहो। आपसे मेरा कौन-सी बात का अंतर है। आपने ये चिट्ठी बहुत अच्छी लिखी। अब मेरे कहने से आप ही अपने पास रखो।
रण - क्यों, क्या ये तुमको अच्छी नहीं लगी?
प्रेम - अच्छी लगी, जब तो आपको देती हूँ।
रण - ये तुम्हारी है।
प्रेम - ना ना आपकी है। मेरे कहने से आपने लिखी इस वास्ते आपका बड़ा उपकार हुआ, पर कुछ और भी प्रेम-भाव से लिखी गई होती तो अच्छा था।
रण - कहो तो दूसरी लिख दूँ।
प्रेम - अच्छा, जब आपकी इच्छानुसार लिख जाय तो आप मेरी तरफ़ से पढ़कर अपने पास रखना, मेरे ऊपर आपका बड़ा उपकार होगा।
रण - (हँसकर) मैंने अब तुम्हारा भाव समझा, तुम मेरे हाथ से मेरे ऊपर तीर छुड़ाया चाहती हो। (प्रेममोहिनी ने हँसकर सिर झुका लिया।)

* * *

परिशिष्ट - 2

॥ अथ तप्तासंवरणनामनाटकस्य प्रकरणम् ॥

॥ स्थान रंग भूमि ॥

॥ अथ तृतीयोऽङ्कः ॥

(तप्ता सखियों समेत आती है)

- तप्ता । सखी ये वोही बन है हाय अब तो कैई दिन बीत गये पर प्यारे नै सुध न लीनी रात कूं नींद भी तो नहीं आती जो स्वप्न मैं ही आँखें ठंडी करूं ॥
- चंद्रकला । राजकुमारी क्यों विरह के सागर में डूबती हो झुर झुर कै धमेली सा अंग कांटा बना लिया होट सूके रहते हैं आखें डबडबाई रहती हैं कोई देखैगा तो क्या कहैगा ॥
- तप्ता । (ऊर्ध्व स्वास लेकर) ये तो मैं भी समझती हूं पर मन मेरे बस मैं नहीं दिन रात उसी ध्यान में मग्न रहता है (हिचकी लेती है)
- चंद्र । वो देखो राजा तुमारी याद करता है ॥
- तप्ता । क्यों चल मेरा जी दुखावै है ॥
- सुंदरी । राजकुमारी आओ एक दो बाजी चोपर की खेले जिस्सै तुमारा मन लगै ॥
- तप्ता । तुमारी खुशी; मंगबाओ ॥
(तप्ता सुंदरी से चोपड़ खेलती है)
- चंद्र । (सुंदरी सै) देख अैसे दाव लीजो जिसमें जुग न टूटै अकेली नरद को निभाव कठिन है ।
(ये सुन्ते ही तप्ता के हाथ से फांसे-आखन से आंसू गिर पड़े)
- चंद्र । देखो राजकुमारी नैं कैसी झड़ी लगाई है ॥
- सुंद । इसमें तो उलटा दुख हुवा अब क्या करें ॥
- तप्ता । समझाये समझत नहीं पलक देत नहि चैन ।
नीर भरे प्यारे रहैं निपट अनोखे नैन ॥
- सखी ये नैनोंही का दोष है जो सब सै पहलै जा-मिले अब अपने किये का फल पाते हैं ॥
- सुंद । राजकुमारी घबराये सै क्या होता है धीरज धरो ॥
- तप्ता । धीरज तन मन ज्ञान गुन सबै गये पिय संग ।
चितवन दामन सी गिरी भस्म किये सब अंग ॥
- चंद्र । कमल चंद्रमा कै पालै पड़ा है देखियै क्या होय ॥
- तप्ता । मीरन बिछरत ही पिया उलट गयो संसार ।
चंद्रा चंदन चांदनी भये जरावन हार ॥
- सुंद । (दुपट्टे सै तप्ता के आंसू पोछ कर) देखो तुमारा शरीर कैसा दुर्बल हो गया है जो कंकण रपट रपट कर पृथ्वी पर गिरता है क्यों अपने शरीर की बैरन भई हो ॥
- तप्ता । बस अब उपदेश का समय नहीं है अब तो तुम सै किया जाय सो बिरह बिथा के मिटनें का उपाय करो ॥
- चंद्र । बात तो अैसे ही है पर उपाय क्या करें ॥
- तप्ता । मैं एक प्रीति पत्रिका लिखती हूं सो प्यारे के पास पहुंचा देना ॥
- सुंद । वाह वा अच्छी बात बिचारी बवाती हो कि क्या! वोभी स्वप्न था सोचो तो सही उसै तुम्हारी कुछ भी प्रीती होती तो अैसे क्यों चला जात ॥
- तप्ता । चल अैसे बातै मत बनावै कहीं एक हाथ सै भी ताली बजी है उनकी प्रीति में तो कुछ संदेह नहीं परंतु न जानैं क्या भेद हुआ (मोहनी सै) जा मेरा संदूक ले आ ॥

(मोहनी जाती है और संदूक लेकर आती है)
(तप्ता कागद हाथ में लेकर सोचती है)

चंद्र. । क्यों अब क्या विचार आया?
तप्ता । ये कि वे तो मेरे मन में बसैं हैं पत्र कोन बांचेगा ॥
सुंद. । भला प्रतिबिम्ब कौन पकड़ सका है ॥
तप्ता । कागद भीजन नैन जल कर कांपत मसि लेत ।
पापी विरहा मन बसत वृथा लिखन नहि बेत ॥
कर कांपत पाती लिखत जल भर आवत नैन ।
कोरो कागद हाथ दे मुख ही कहियो वैन ॥
चंद्रा. । तुम सै क्या लिखा जावैगा ल्यो तुम बोलती जाओ मैं लिखती जाऊंगी ॥
तप्ता । चतुर शिरोमणि प्रेम निधि मो चकोर के चंद्र ।
निज दर्शन सै दृगन को कब दैहा आनंद ॥
मन चाहत है मिलन को मुख देखन को नैन ।
श्रवणा सुन्यो चाहत सदा पिय प्यारे के बैन ॥
तुम बिन इतनी को करै दया भाव मम नाथ ।
मोहि अकेली जान के राख दियो दुख साथ ॥
मैं तुम कूं नहि सुमरि हो तुम नित सुमरो मोहि ।
सुमरण चित को धर्म है हर लीनो तम सोहि ॥
प्यारे तेरे विरह मैं रह्यो अधर जी आय ।
अब का आज्ञा होत है रहै कि फिर घट जाय ॥
तेरे विरह समुद्र में हो जहाज भद्र कंत ।
तन मन जोवर डूबियो प्रेम ध्वजा फहरंत ॥
कहन सुनन की बात नहि पढ़ी लिखी नहि जात ।
अपने जी सै जानियो मेरे जीकी बात ॥

इति ।

चंद्र. । अब ये पत्री किस के हाथ भेजोगी ॥
तप्ता । क्या बताऊँ यों तो जिसै कहूं वो ही ले जावै पर बाट किस पै देखी जावैगी यहां तो
विरह मैं क्षण क्षण कल्प कल्प की बराबर बीतै हैं मेरा बिचार है कि मैं आप जोगन बन
कै प्यारे कूं ढूँढने जाऊं ॥
सुंद. । जगदीस का भजन करो कहीं ऐसी मत विचारना जो तुम ऐसी बिचारोगी तो उस
भेष पै हम सब अपने प्राण नोछावर करदैंगी ।
तप्ता । सजनी मन तो एक है ये न भये दसबीस ।
सो प्यारे मैं लग गयो कोन भजै जगदीस ॥
जो भाग्य मैं लिखा है भोगना ही पड़ता है तुम मेरी प्रसन्नता मैं प्रसन्न हो तो अब
मेरी बात मत टालो ॥
चंद्र. । इन्हीं की राजी रखो मैं इनके सग जाऊंगी ।
(तप्ता सखियों समेत नेपथ्य में जाती है)
(तप्ता वीणा ले कर चंद्रकला करताल लेकर जोगन के भेष में आती हैं
तप्ता । (वीणा बजा कर) राग बिहाग गाती है ॥
(चंद्रकला करताल बजाती है)

जगावत मेरे मनहि अनंग ।
 चैन न लैन देत निशबासर उपजावत बहुरंग ।
 मोहि अकेली जान डरावत करत निराले ढंग ॥
 निरख निरख चपला की चमकन मन मैं उठत उमंग ।
 अब की बार दरस जो पाऊं जन्म न छोडू संग ॥
 जगावत मेरे मनहि अमंग ॥

चंद्र । वो देखो काग बोला अब राजा आते होंगे ॥
तप्ता । पिया मिलन जो होय अब उड़ जा काग सभाग ।
 दूध दही तोहि देउंगी और बहुत सो पाग ॥
 (कान लगा कर) सखी कोई की पैछल तो मालुम पडै है ॥
चंद्र । परमेश्वर करै कहीं तुमारो चितचोर आजाय ॥

(संवरण आता है)

संवरण । आहा आज तो मेरी लगन नें प्यारी के मन में प्रवेश किया ॥
तप्ता । (सखी सै) ये कोन हैं मैं तो इसै नही पह चानती ॥
संव । ठीक है जो मैं भी जोगी बन कर आता तो तुम पहचानती ॥
तप्ता । तुम कहां की पहचान निकलाते हो ॥
संव । यहां की दो दिन की बात है तुमनें मेरे हृदय की प्रीति प्रेम बेल को रस की बातों सै सींच
 सींच कर बढ़ाया था अब क्या उसको सुखाया चाहती हो नहीं ये हंसी की बातें छोड़ दो ।
तप्ता । हंसी कैसी झूठा कलंक लगानें सै क्या कुछ हाथ आता है ॥
संव । देखो तुमनें अपने हाथ सैं ये पुष्पन की माला मेरे गले मैं पहराई थी ॥
तप्ता । क्या इसमें मेरा नाम खुद रहा है ॥
संव । तुम सखियों समेत मृग पकड़नें गई थी तब लोटती समय तुमारा वस्त्र गुलाब की डार में
 अटक गया उसकी तुम्है याद है वा नहीं ॥
तप्ता । ये कौन सी नई बात है जो याद होती ॥
संव । ओहो गौतम ऋषि के शाप सै तुम कूं मेरी सुधि बिसर गई थी पर उस शाप की अवध
 अंग स्पर्श लग है इस लियै शीघ्र अपना कर कमल मेरे वक्षस्थल पै धारण करो जिससै
 मुझै धीरज होय ओर तुम्हारा संदेह मिटे ॥
तप्ता । ये तों नई बात घड़ी औसी बातों सै क्या होता है यहां तुमारा पाखंड कभी नहीं चलैगा ॥
संव । (क्रोध करके) पाखंड किस का पहिलै तो हाव भाव करके मेरा मन लुभा लिया अब
 मझधार में डबोना तुम्है उचित नहीं है ॥
तप्ता । फिर वोही बात वृथा हट करनें मैं क्या लाभ है मैं इस विषय में तुम्हारे वचन का
 विस्वास किसी रीति सै नहीं कर सकती ॥
संव । एक बार अपना हस्त कमल मेरे शरीर सै लगा दो तो सब छल छिद्र खुलजाय ॥
तप्ता । मैं पतिव्रता हूं दूसरे की ओर आंख उठा कर नहीं देखती अंग स्पर्श कैसा ॥
संव । आश्चर्यमाश्चर्यम् हे दैव संसार में एक येही पतिव्रता है यही सत्य वक्ता है ओर सब
 मिथ्यावादी दुराचारी है क्या कहूं औसी बुद्धि पर बलिहारी हूं जो झूट सत्य का निर्णय
 नहीं करसक्ती ॥
तप्ता । (भृकुटी चढ़ा कर) बस हम नै तुमारे बहुत कठोर वचन सहे अब चुप रहो ॥

- संव. ।** हाधिक् हाधिक् बड़ा अनर्थ हुआ मैंने मणि के धोके अंगार उठा लिया मैं तो कोमल शरीर देख कर मोहित हो गया था इसका मन तो वज्र से भी कठोर निकला पर बस किस का मन पापी तो अब भी नहीं मान्ता ॥
- तप्ता ।** तुम से वृथा कौन शिर खाली करै ॥
- संव. ।** (स्वागत) ये तो हट नहीं छोड़ती राज हट वाल हट त्रिया हट विख्यात है पर कीसी ढब से एक बार इसका अंगस्पर्श करलें तो सब संशय मिट जाय (धीरै-धीरै तप्ता की और जाता है)
- तप्ता ।** (घबरा कर) ये कहां की आपत्ति आई है ॥

(उठ कर चलती है ओर संवरण पीछे होता है)

(तप्ता तिरछी चितवन से पीछे की ओर देखती भृकुटी चढाती और लजाती हुई चलती है संवरण पास आजाता है तब अंग समेट कर आगे निकल जाती है और नेपथ्य के पास जाकर फुरती से नेपथ्य में चली जाती है चंद्रकला भी उसके पीछे ही चली जाती है ओर संवरण दूसरी ओर से जाता है)

जवनिका गिरती है

इति तृतीयोङ्कः

परिशिष्ट - 3
परीक्षा गुरु
प्रकरण - 26

दिवाला

कीजै समझ, न कीजिए बिना बिचार व्यवहार।।
आय रहत जानत नहीं? सिरको पायन भार।।

वृन्द.

लाला मदनमोहन प्रातःकाल उठते ही कुतब जानें की तैयारी कर रहे थे. साथ जानेंवाले अपनं, अपनं कपड़े लेकर आते जाते थे, इतने में निहालचन्द मोदी कई तकाजगीरों को साथ लेकर आ पहुंचा.

इसमें हरिकशोर से मदनमोहन के दिवाले का हाल सुना था. उसी समय से इस्को तलामली लग रही थी. कल कई बार यह मदनमोहन के मकान पर आया, किसी न इस्को मदनमोहन के पास तक न जानें दिया और न इस्के आने इत्तला की. संध्या समय मदनमोहन के सवार होने के भरोसे वह दरवाजे पर बैठा रहा परन्तु मदनमोहन सवार न हुए इस्से इस्का संदेह और भी दृढ़ होगया. शहर में तरह-तरह की हजारों बातें सुनाई देती थी इस्से वह आज सवेरे ही कई लेनदारों को साथ लेकर एकदम मदनमोहन के मकान में घुस आया और पहुंचते ही कहने लगा “साहब! अपना हिसाब करके जितने रुपे हमारे बाकी निकलें हमको इसी समय दे दीजिए. हमें आप का लेन-देन रखना मंजूर नहीं है, कल सै हम कई बार यहाँ आए परन्तु पहरे वालों ने आप के पास तक नहीं पहुंचने दिया.

“हमारा रुपया खर्च करके हमारे तक्राजे से बचने के लिये यह तो अच्छी युक्ति निकली!” एक दूसरे लेनदार ने कहा “परंतु इस्तरह रकम नहीं पच सकती. नालिश करके दमभर में रुपया धरा लिया जायगा.”

“बाहर पहरे चौकी का बंदोबस्त करके भीतर आप अस्बाब बांध रहे हैं!” तीसरे मनुष्य ने कहा जो दो, चार घड़ी हम लोग और न आते तो दरवाजे पर पहरा ही पहरा रह जाता लाला साहब का पता भी न लगता.”

“इस्मै क्या संदेह है? कल रात ही को लाला साहब अपनं बाल बच्चों को मेरठ भेज चुके हैं” चौथे ने कहा “इन्सालवन्सी के सहारे से लोगों को जमा मारने का इन दिनों बहुत होसला होगया है.”

क्या इस जमाने में रुपया पैदा करने का लोगों ने यही ढंग समझ रक्खा है” एक और मनुष्य कहने लगा “पहले अपनी साहूकारी, मातबरी, और रसाई दिखाकर लोगों के चित्त में विश्वास बैठाना, अन्त में उनकी रकम मारकर एक किनारे हो बैठना”

“मेरी तो जन्म भर की कमाई यहीं है मैंने समझा था कि थोड़ीसी उमर बाकी रही है सो इस्में आराम सै कट जायगी परन्तु अब क्या करूं? एक बुडुढा आंखों में आंसू भरकर कहने लगा “न मेरी उमर मेहनत करने की है न मुझको किसी का सहारा दिखाई देता है जो तुम से मेरी रकम न पटेगी तो मेरा कहां पता लगेगा?”

“हमारे तो पांच हजार रुपे लेने हैं लाओ इस्समय हम चार हजार में फैसला करते हैं” एक लेनदार ने कहा.

“औरों की जमा मारकर सुख भोगने में क्या आनंद आता होगा?” एक और मनुष्य बोल उठा.

इतने में और बहुतसे लोगों की भीड़ आगई. वह चारों तरफ़ मदनमोहन को घेरकर अपनी, अपनी कहने लगे. मदनमोहन की ऐसी दशा कभी काहे को हुई थी? उसके होश उड़ गए. चुन्नीलाल, शिंभूदयाल वगैरे लोगों को धैर्य देने की कोशिश करते थे परंतु उनको कोई बोलने ही नहीं देता था. जब कुछ देर खूब गड़बड़ हो चुकी लोगों का जोश कुछ नरम हुआ तब चुन्नीलाल पूछने लगा “आज क्या है? सबके सब एकाएक तेजी में कैसे आ गए? ऐसी गड़बड़ सै कुछ भी लाभ न होगा. जो कुछ कहना हो धीरे सै समझा कर कहो.”

“हम को और कुछ नहीं कहना हम तो अपनी रकम चाहते हैं” निहालचन्द ने जवाब दिया।

“हमारी रकम हमारे पल्ले डालो फिर हम कुछ गड़बड़ न करेंगे” दूसरे ने कहा।

“तुम पहले अपने लेने का चिट्ठा बनाओ अपनी अपनी दस्तावेज दिखाओ हिसाब करो, उस्समय तुम्हारा रुपया तत्काल चुका दिया जायगा” मुंशी चुन्नीलाल ने जवाब दिया।

“यह लो हमारे पास तो यह रुक्का है” हमारा हिसाब यहरहा “इस रसीद को देखिये” हमने तो अभी रकम भुगतार्ई है. यह तरह पर चारों तरफ सै लोग कहनें लगे.

“देखो जी! तुम बहुत हल्ला करोगे तो अभी पकड़ कर कोतवाली मैं भेज दिए जाओगे और तुम पर हतक इज़्जत की नालिश की जायगी नहीं तो जो कुछ कहना हो धीरज से कहो” मास्टर शिंभूदयाल ने अवसर पाकर दबाने की तजवीज की.

हमको लड़नें झगड़नें की जरूरत है? हम तो केवल जवाब चाहते हैं. जवाब मिले पीछे आप सै पहले हम नालिश कर देंगे” निहालचन्द ने सबकी तरफ सै कहा.

“तुम वृथा घबराते हो. हमारा सब माल मता तुम्हारे साम्हनें मौजूद है. हमारे घर मैं घाटा नहीं है ब्याज समेत सबको कौड़ी, कौड़ी चुका दीजायगी” लाला मदनमोहन ने कहा.

“कोरी बातों से जी नहीं भरता” निहालचन्द कहनें लगा “आप अपना बही खाता दिखादें, क्या लेना है? क्या देना है? कितना माल मौजूद है?” जो अच्छी तरह हमारा मन भर जायगा तो हम नालिश नहीं करेंगे”

“कागज तो इस्समय तैयार नहीं है” लाला मदनमोहन ने लजाकर कहा. करिये जतन तो पीछे फल होय। आग लगे खोदे कुआ कैसे पावे तोय।। इस काठ कबाड़ के तो समयपर रुपे मैं दो आनें भी नहीं उठते” एक लेनदार ने कहा.

“ऐसे ही अनसमझ आदमी जल्दी करके बेसबब दूसरो का काम बिगाड़ दिया करते हैं” मास्टर शिंभूदयाल कहनें लगे.

इतनें मैं हरकिशोर अदालत के एक चपरासी को लेकर मदनमोहन के घर पर आ पहुंचे और चपरासी ने सम्मन पर मदनमोहन सै कायदे मूजिब इत्तला लिखा ली.

उस्को गए थोड़ी देर न बीतनें पाई थी कि “आगाहसनजान की तरफ सै मुझको आपके जताने के लिये यह फर्मायश हुई है कि आप उस्के पहले की खरीद के घोड़ों की कीमत का रुपया तत्काल चुका दें और कल की खरीद के तीन घोड़ों की क्रीमत चौबीस घंटे के भीतर भेजकर अपने घोड़े मंगवाले जो इस मयाद के भीतर कुल रुपया न चुका दिया जायगा तो ये घोड़े नीलाम कर दिये जायेंगे और इन्की क्रीमत मैं जो कमी रहैगी पहले की बाक्री समेत नालिश करके आप सै वसूल की जायगी”

थोड़ी देर पीछे मिस्टर ब्राइट का सम्मन और कच्ची कुरकी एक साथ आ पहुंची इस्से लोगों के घबराहट की कुछ हद न रही. घर मैं मामला हल होने की आशा जाती रही. सबको अपनी, अपनी रकम गलत मालूम होने लगी और सब नालिश करने के लिए कचहरी को दौड़ गए.

“यह क्या है? किस दुष्ट की दुष्टता सै हम पर यह गजब का गोला एक साथ आ पड़ा?” लाला मदनमोहन आंखो मैं आंसू भर कर बड़ी कठिनाई से इतनी बात कह सके.

“क्या कहूँ? कोई बात समझ मैं नहीं आती” मुंशी चुन्नीलाल कहनेंलगे “कल लाला ब्रजकिशोर यहाँ से ऐसे बिगड़ कर गए थे कि मेरे मन मैं उसी समय खटका हो गया था शायद उन्हीं ने यह बखेड़ा उठाया हो. बाजे आदमियों को अपनी बात का ऐसा पक्ष होता है कि वह औरों की तो क्या? अपनी बरबादी का भी कुछ विचार नहीं करते. परमेश्वर ऐसे हठीलों से बचाय. हरकिशोर का ऐसा होसला नहीं मालूम होता और वह कुछ बखेड़ा करता तो उस्का असर कल मालूम होना चाहिये था अब तक क्यों न हुआ?”

प्रथम तो निहालचन्द कल से अपने मन मैं घबराहट होने का हाल आप कह चुका था, दूसरे हरकिशोर की तरफ से नालिश दायर होकर सम्मन आगया. तीसरे चुन्नीलाल ब्रजकिशोर के स्वभाव को

अच्छी तरह जानता था इसलिये उसके मन में ब्रजकिशोर की तरफ से जरा भी संदेह न था परन्तु यह हरकिशोर की अपेक्षा ब्रजकिशोर से अधिक डरता था इसलिये उसने ब्रजकिशोर ही को अपराधी ठैराने का बिचार किया, अफसोस! जो दुराचारी अपने किसी तरह के स्वार्थ से निर्दोष और धर्मात्मा मनुष्यों पर झूटा दोष लगाते हैं अथवा अपना कसूर उनपर बरसाते हैं उनके बराबर पापी संसार में और कौन होगा?

लाला मदनमोहन के मन में चुन्नीलाल के कहने का पूरा विश्वास होगया. उसने कहा “मैं अपने मित्रों को रुपे की सहायता के लिए चिट्ठी लिखता हूँ. मुझको विश्वास है कि उनकी तरफ से पूरी सहायता मिलेगी परन्तु सबसे पहले ब्रजकिशोर के नाम चिट्ठी लिखूंगा कि वह मुझको अपना काला मुंह जन्म भर न दिखलाय” यह कह कर लाला मदनमोहन चिट्ठियां लिखने लगे.

* * *

सहायक पुस्तक सूची

1. ईश्वरी प्रसाद आधुनिक भारत
2. ओ० पी० केजरीवाल दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल
3. केशवचन्द्र सेन प्रोमोशन ऑफ एजुकेशन इन इंडिया
4. केशवदेव ब्रिटिश भारत का आर्थिक इतिहास
5. के० एन० पणिककर औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारधारात्मक संघर्ष
6. दशरथ ओझा
 1. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास
 2. हिन्दी नाटक कोश
7. धीरेंद्र वर्मा सं० हिन्दी साहित्य कोश भाग 1, 2
8. नित्यानंद तिवारी आधुनिक साहित्य और इतिहास बोध
9. बाबू ब्रजरत्नदास
 1. हिन्दी नाट्य साहित्य
 2. भारतेंदु मंडल
10. महादेव गोविंद रानाडे दि मिसलेनियस राइटिंग्स
11. राल्फ फॉक्स उपन्यास और लोकजीवन
12. रामचंद्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास
13. रामविलास शर्मा
 1. भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ
 2. भारतेंदु युग
14. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा हिन्दी गद्य के निर्माता पं० बालकृष्ण भट्ट 1998
15. सुन्दरलाल भारत में अंग्रेज़ी राज
16. सोमनाथ गुप्त हिन्दी-नाटक साहित्य का इतिहास
17. सत्यकेतु विद्यालंकार भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास
18. श्याम सुन्दर दास (सं) भारतेंदु नाटकावली इंडियन प्रेस, प्रयाग
19. श्रीकृष्णलाल
 1. श्रीनिवासदास ग्रंथावली (सं)
 2. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास
20. लक्ष्मीसागर वाष्पेय आधुनिक हिन्दी साहित्य
21. हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य
22. हेमन्त शर्मा भारतेंदु समग्र
23. ज्ञानचंद्र जैन प्रेमचंद पूर्व के हिन्दी उपन्यास
24. राष्ट्रीय नवजागरण : वीरभारत तलवार
कुछ प्रसंग, कुछ प्रवृत्तियाँ